प्रमुख विक्रेता—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम वार १०००

मूल्य पौने तीन रुपये

मुद्रक
जगतनारायणलाल
हिन्दी साहित्य प्रेस
प्रयाग

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मेरा यह शिशु-प्रयास
उन्हीं
स्वर्गीय मात-पिता को
समर्पित
जो मेरी शिशुता से प्रसन्न ही
होते रहे हैं ।

चक्र निरूपण

गोरख नाथ ने चक्रों के वर्णन में भी तंत्र से ही सहायता ली है। वे कहते हैं "आत्मा उत्तिम देव" है, वह "देव सरीर भीतरिहे" रहता है। वह गुरुदेव है। शरीर में ही सब कुछ है। इन्द्रियों के नौ रंध्रों में, "नवे द्वारे नवे नाथ, तृवेणी जगन्नाथ (सांपाधिक ईश्वर) दसवें द्वारि केदारं (शिव, स्वयं परब्रह्म)" का वास है।

ब्रह्मरंध्र में चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी के लोप हो जाने से और सुषुम्ना के प्राधान्य से साधार्थी के लिए घोर अंधकार हो जाता है—

"दस बीस सहसं षटसां आइ, पवन पुरिष जप माली।
इला प्यंगुला सुषमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली॥
षटसा[1] षोड़िकवल[2] दलधारा वहाँ—बसै ब्रह्मचारी
हंस[3] पवन ज फूलन पैठा[4] नौ से नदी पनिहारी[5]
अरध बहता[6] उरधँ बीजै[7] रवि सस[8] मेला कीजै।
चंद सूर दोऊ गगन बिलूधा भईला घोर अंधार॥"

वे तिथियों के बहाने योग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"मन[9] पवन अगम उजियाला, रवि ससि तार गयाई
तीनि राज[10] त्रिविधि कुल नाहीं; चारि जुग सिधिवाई
पंच सहंस[11] में षट अपूठा[12] सप्तवीच[13] अष्टनारी[14]
नव षंड पृथ्वी इकवीस माही[15] एकादसि (समाधि) एकतारी[16]
द्वादसी त्रिकुटी चला पिंगुला, पचदसि चित मिलाई।
षोड़स कवल दल सोस बतीसो जुग मान भौ जमाई॥

[1] स्वाधिष्ठान चक्र। [2] विशुद्ध। [3] जीव। [4] ज्ञान उत्पन्न होता है। [5] सम्पूर्ण नाड़ी जाल। [6] अमृत या पवन। [7] ब्रह्मांड। [8] नाड़ी। [9] द्वैज। [10] भैगुराय। [11] सहस्रारि [12] अन्तर्मुखी प्रवृति। [13] अविरल ज्योति। [14] कुंडलनी सिद्ध हुई। [15] ब्रह्मांड काया के भीतर। [16] समधि। [17] विशुद्ध।

मूल से जा मिलाया और जनता की वामाचार एवं वज्रयान के आदर्श से रक्षा की। इस प्रकार भारतीय साधना पद्धति के इतिहास में गोरखनाथ और उनके नाथ पंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अपनी बात

इन दो निबन्धों को लिखने की प्रेरणा मुझे उस समय मिली थी जब मैं एम० ए० का विद्यार्थी था। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'गोरख-बानी' प्रकाशित हो चुकी थी, और उसकी ओर हमारा ध्यान पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आकर्षित किया था। पूज्य डा० रामकुमार वर्मा के आदेशानुसार मैंने 'नाथ संप्रदाय और तंत्र शास्त्र' पर निबंध लिखना प्रारंभ किया था। तंत्र-शास्त्र का विषय अत्यंत ही विस्तृत एवं गंभीर है, जिस पर बहुत कुछ लिखा भी गया है। इस निबंध में, मैंने थोड़े में उसके सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसा कि निबंध को पढ़ने से ज्ञात होगा, वह एक धारा थी जिसने आगे चल कर नाथ-संप्रदाय को भी बहुत हद तक प्रभावित किया है। गोरखनाथ के समय और उनके सिद्धांतों पर भी थोड़े में प्रकाश डाला गया है। गोरख के सिद्धांतों के अध्ययन का आधार डा० बड़थ्वाल द्वारा संपादित गोरखबानी ही है।

प्रिय भाई रघुवंश ने 'कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत' लिखने के लिये मुझे उत्साहित किया है और अज्ञात रूप से बड़े चाचाजी कुमार विश्वनाथ नारायणसिंह का प्रोत्साहन तो इसकी मूल प्रेरणा ही है। श्रीमद्भागवत से लेकर आधुनिक युग के कवियों की 'भ्रमरगीत' एवं उद्धव-गोपी विषयक रचनाओं और उनकी प्रवृत्तियों का ही अध्यन इस निबंध का आधार है। ऐसे कवियों की रचनाओं पर विचार नहीं किया जा सका है जिनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हो सकीं।

मैं उन सब लेखकों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथों से मुझे सहायता मिली है।

पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त एवं पंडित देवी प्रसाद शुक्ल, जिनके चरणों में बैठ कर मैंने हिन्दी साहित्य का अध्ययन

परिशिष्ट

कृष्ण-काव्य की परंपरा में भ्रमरगीत प्रसंग बहुत प्रिय रहा है। निबन्ध में प्रमुख कवियों के काव्य में प्राप्त हुए इस प्रसंग का क्रमिक विकास उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सभी कवियों को ले लिया गया है। कितने कवियों के ग्रन्थों के विषय में निर्णय स्पष्ट नहीं है, और उनकी हस्तलिपियों को प्राप्त करना भी सरल नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हीं कवियों को यहाँ लिया जा सका है जिनके ग्रंथ छप चुके हैं। अनेक कवि ऐसे हैं जिनके काव्य में भ्रमरगीत संबंधी प्रसंग किसी न किसी रूप में आया है, पर यहाँ उनको नहीं लिया जा सका है। नंददास, प्रांगण, रसनायक और बिंदु-ब्रह्मचारी आदि कवि इस प्रकार छूट गए हैं। रसनायक ने अपने 'विरह-विलास' में सूर-भाग एक ओर में रख कर फिर उसका विकास कवित्त और सवैयों में किया है। प्रांगण ने अपने समस्त प्रसंग को दोहा-चौपाई में ही उपस्थित किया है। भाव की दृष्टि से अधिकांश भाव सूर से ही लिए गए हैं। 'विरह-विलास' को कवि ने पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त किया है। 'पूर्वार्द्ध' में उद्धव का गोकुल आना तथा निर्गुण उपदेश देना और गोपियों का उसका प्रतिवाद करना वर्णित है। 'उत्तरार्द्ध' में उद्धव के हाथ संदेश भेजे गए हैं, और उद्धव द्वारिका जाकर सारी-कथा सुनाते हैं तथा अपनी हीनता समझ गोकुल जाने का नाम नहीं लेते।

जैसा कहा गया है सूर तथा अन्य पूर्ववर्ती कवियों से रसनायक ने भावों को ग्रहण किया है। कृष्ण उद्धव से माता के लिए संदेश देते हैं—

किया है, उनके ऋण को चुका भी सकूंगा—यह संदिग्ध है।

पूज्य डा० रामकुमार वर्मा का तो मैं अत्यधिक ऋणी हूँ और उससे मुक्त होना मेरे लिये असंभव ही है। वे दिन अनायास ही सामने आ जाते हैं जब कक्षा में डाक्टर साहब किंचित मुस्कान लिये गंभीर स्वर में हमें निबंध लिखने के लिये उत्साहित ही नहीं बाध्य भी करते थे। यदाकदा उन बातों के सुनने का यदि सौभाग्य नहीं प्राप्त होता तो कह नहीं सकता कि निबंधों को इस रूप में प्रस्तुत करने की प्रेरणा मुझे प्राप्त भी हो सकती।

पूज्य डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का भी मैं कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने अपनी अप्रकाशित पुस्तक से उद्धव-गोपी संबंधी कवित्त हमें देने की कृपा की, साथ ही उस अंश के प्रूफ को देखने का भी कष्ट किया। अपने शिष्यों पर डा० साहब की सदैव कृपा रही है, जिसे हम उनकी महान उदारता समझते हैं।

भाई रघुवंश का जो सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उसके विषय में लिखना या उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना केवल उपचार होगा, और हम अपने संबंध की निकटता में इसके अभ्यस्त भी नहीं हैं।

अस्सी—संगम
काशी
२५ अप्रेल

केशव नारायण सिंह

आमुख

[१]

युगों से काव्य में भ्रमर उपालंभ का पात्र रहा है। प्रकृति के उन्मुक्त-क्षेत्र में आदि कवि की वाणी किसी अव्यक्त व्यथा से 'मा निषाद' के रूप में गुंजरित हो उठी थी। और कवि की यही करुणा रामायण में सीता के निर्वासन प्रसंग को लेकर उमड़ पड़ी है। वस्तुतः सीता के जीवन-नाटक का जो अन्तिम दृश्य कवि के आश्रम में अभिनीत हुआ था, वही कवि के प्राणों में संचित होकर 'मा निषाद' के द्वारा प्रवाहित हो उठा है। और जिस प्रकार क्रौंच-मिथुन की पीड़ा से उत्पन्न होने वाली करुणा कवि के लिए सीता के जीवन की मौन-व्यथा की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई है, लगता है उसी प्रकार का सत्य इस भ्रमर विषयक उपालंभ में भी छिपा हुआ है। हम देखते हैं कि इस भाव-धारा के विकास में साहित्य के साथ ही इतिहास भी साक्षी है।

कवि जीवन और समाज के साथ रहा है, पर वह उनके साथ रह कर भी आगे पीछे देख सका है। यही कारण है कि प्रतिभावान् कवि जीवन और समाज की साधारण मान्यताओं से तुष्ट कर्ता नहीं रहा है। सामंत युगीन कवि ने देखा था—उस युग में सामंतों के अन्तःपुर में, रनिवासों में अनेक नारियाँ परतंत्रता का जीवन व्यतीत कर रही हैं। अनेक नायिकाओं वह एक नायक स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करता है। नारी के बंधन का यह युग कब से आरम्भ हुआ, ठीक नहीं कहा जा सकता। परंतु एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का संबंध काफ़ी प्राचीन-काल से धर्म-सम्मत माना जाता रहा है। नारी की इस विवशता और उसके इस बंधन के प्रति कवि का अनुभूतिशील होना स्वाभाविक था। उसे लगा—उसे नारी की

मूक-व्यथा की अभिव्यक्ति करनी है; उसे शृंगार के उस वियोग-पक्ष का चित्रण करना है जिसमें नायक के प्रेम से उसकी निर्ममता ही अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। पर साथ ही उसे स्वतंत्रता नहीं थी—राजा की प्रशंसा करना उसका निज का स्वार्थ भी था। इसी मानसिक दुविधा की स्थिति में कवि ने देखा होगा—कोमल कोमल फूलों पर भौंरा 'गुन गुन' करता आता है, रसपान करता है फिर उसे छोड़कर, दूसरे फूल की ओर चला जाता है। कवि को लगा जैसे यह तो वैसा ही कुछ है जैसा वह अपने चारों ओर जीवन में देखता है। कवि की संवेदना सजग हो उठी—उसकी कल्पना को आधार मिल गया—साथ ही रनिवास की मूक व्यथा भी मुखरित होने के लिए उत्सुक हो उठी। और कवि ने भ्रमर को अपने उपालंभ का विषय चुन लिया। फूलों की ओर से कवि ने भ्रमर को उसकी चंचलता और निष्ठुरता के लिए बुरा-भला कहना आरम्भ किया; परंतु साथ ही फूल अपने उपालंभ में कोमल है और अपनी व्यथा में विवश भी।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य अपनी प्रमुख प्रेरणा में कलात्मक ही रहा है। बाद के संस्कृत-साहित्य में धार्मिक-प्रवृत्तियां मिलती हैं, परंतु संस्कृत-साहित्य का यह भाग काव्य से अधिक संबधित न होकर, पुराणों में ही सन्निहित है। साहित्य के रूढ़िवादी काव्य-युग के बाद ही हिन्दी-साहित्य का धार्मिक-युग आरंभ होता है। पहले के युग में जो परंपरा थी—धर्म था; वह इस युग में धार्मिक-साधना के रूप में भी स्वीकृत हो गया था। इस धार्मिक-साधना की पृष्ठभूमि में मध्य-युग की दार्शनिक विचार-धारा भी थी। ईश्वर एक पुरुष है और जीवात्माएँ प्रकृति के रूप में अनेक स्त्रियाँ हैं; और उस पुरुष के प्रति समस्त नारियों का पूर्ण आत्मसमर्पण ही साधना का चरम है। इस कल्पना का आधार दार्शनिक दृष्टिकोण से कितना ही महान क्यों न हो और इस साधना की चरम परिणति भी कितनी ही भव्य क्यों न हो; परंतु इस के मूल-रूप को खोजने के लिए हमको

सामंतकालीन उसी भावना में देखना होगा। पहले साहित्य में जो विवशता थी—उत्पीड़न की व्यथा थी; वही धार्मिक-साहित्य में अनुग्रह और साधना का विषय हो गया। धर्म ने पहले ही उल्लेख किया था कि नारी के लिए पुरुष ही गति है; पर पुष्टिमार्गी प्रेम-साधना में भगवान् की कल्पना ही पुरुष-रूप में की गई है। भगवान् के प्रति अन्यथा भाव रखा भी कैसे जा सकता है। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत से आरम्भ होने वाले भ्रमरगीत प्रसंग में उपालंभ का व्यंजना प्रेम की अभिव्यक्ति ही है; उसमें ईर्ष्या की भावना भासित भर होती है जो प्रेम के विस्तार में खो जाती है।

धार्मिक-काव्य में भ्रमर का प्रयोग प्रतीक के अर्थ में हुआ है। कृष्ण और उद्धव दोनों ही श्याम-वर्ण के हैं, और इस प्रकार भ्रमर से उनका वर्ण-साम्य है। भ्रमर अपने प्रेम-व्यवहार में निष्ठुर है—कृष्ण ने भी गोपियों के साथ इसी प्रकार का निष्ठुर व्यवहार किया है। साथ ही भ्रमर की अस्पष्ट 'गुन गुन' कृष्ण के निर्गुण संदेश और उद्धव के निर्गुण उपदेश से मिलती जुलती है। इन सब समानताओं के साथ भ्रमर गोपी विरह-प्रसंग में उपालंभ का विषय बना, और यह प्रसंग विशेषतः जिसमें गोपियाँ और उद्धव का संवाद है 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ कवियों ने तो उद्धव और गोपी संवाद के बीच में भ्रमर का प्रवेश कराया है और फिर उसके माध्यम से गोपियों का उपालंभ प्रारम्भ किया है। परंतु बाद में 'भ्रमर' उद्धव और कृष्ण की सम्मिलित भावना का प्रतीक हो जाता है। फिर गोपियाँ केवल 'मधुकर' 'मधुप' आदि नामों का उल्लेख मात्र करके अपनी विरह-व्यथा को व्यक्त करती हैं और कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति अपने मनोभावों को प्रकट करती हैं। यहाँ भ्रमर संबंधी भावना और उसका प्रतिकार्थ प्रसंग की भूमिका के रूप में ही उपस्थित होकर रह जाता है। परंतु इस प्रसंग में भ्रमर का संयोग उपालंभ की जिस भावना से आरंभ हुआ है वह सदा ही उसी

मूक-व्यथा की अभिव्यक्ति करनी है; उसे शृंगार के उस विलास-पक्ष का चित्रण करना है जिसमें नायक के प्रेम से उसकी निर्ममता ही अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। पर साथ ही उसे स्वतंत्रता नहीं थी—राजा की प्रशंसा करना उसका निज का स्वार्थ भी था। इसी मानसिक दुविधा की स्थिति में कवि ने देखा होगा—कोमल कोमल फूलों पर भौंरा 'गुन गुन' करता आता है, रसपान करता है फिर उसे छोड़कर, दूसरे फूल की ओर चला जाता है। कवि को लगा जैसे यह तो वैसा ही कुछ है जैसा वह अपने चारों ओर जीवन में देखता है। कवि की संवेदना सजग हो उठी—उसकी कल्पना को आधार मिल गया—साथ ही रनिवास की मूक व्यथा भी मुखरित होने के लिए उत्सुक हो उठी। और कवि ने भ्रमर को अपने उपालंभ का विषय चुन लिया। फूलों की ओर से कवि ने भ्रमर को उसकी चंचलता और निष्ठुरता के लिए बुरा-भला कहना आरम्भ किया; परंतु साथ ही फूल अपने उपालंभ में कोमल है और अपनी व्यथा में विवश भी।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य अपनी प्रमुख प्रेरणा में कलात्मक ही रहा है। बाद के संस्कृत-साहित्य में धार्मिक-प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, परंतु संस्कृत-साहित्य का यह भाग काव्य से अधिक संबंधित न होकर, पुराणों में ही सन्निहित है। साहित्य के रूढ़िवादी काव्य-युग के बाद ही हिन्दी-साहित्य का धार्मिक-युग आरंभ होता है। पहले के युग में जो परंपरा थी—धर्म था; वह इस युग में धार्मिक-साधना के रूप में भी स्वीकृत हो गया था। इस धार्मिक-साधना की पृष्ठभूमि में मध्य-युग की दार्शनिक विचार-धारा भी थी। ईश्वर एक पुरुष है और जीवात्माएँ प्रकृति के रूप में अनेक स्त्रियाँ हैं; और उस पुरुष के प्रति समस्त नारियों का पूर्ण आत्मसमर्पण ही साधना का चरम है। इस कल्पना का आधार दार्शनिक दृष्टिकोण से कितना ही महान क्यों न हो और इस साधना की चरम परिणति भी कितनी ही भव्य क्यों न हो; परंतु इस के मूल-रूप को खोजने के लिए हमको

भक्तिकालीन इसी भावना में देखना होगा। पहले साहित्य में जो निष्ठुरता थी—उपालंभ का व्यंग्य था; वही भक्ति-साहित्य में अनुग्रह और भावना का विषय हो गया। पहले में पहले ही उल्लेख किया था कि नारी के लिए पुरुष ही आलंब है; पर पुष्टिमार्गी प्रेम-भावना में भगवान् को स्त्रियों का पुरुषरूप में भी कहा है। भगवान् के प्रति अन्यथा भाव रखा भी कैसे जा सकता है। यही कारण है कि भक्तिकालीन से प्रारम्भ होने वाले भ्रमरगीत प्रसंग में उपालंभ का अर्थात्ता प्रेम की अभिव्यक्ति ही है; उसमें ईर्ष्या की भावना यदि भर होती है तो प्रेम के विस्तार में खो जाती है।

भक्ति-काव्य में भ्रमर का प्रवेश प्रतीक के रूप में हुआ है। कृष्ण और उद्धव दोनों ही श्याम वर्ण के हैं, और इस प्रकार भ्रमर से इनका साम्य-भाव है। भ्रमर अपने प्रेम-व्यवहार में निष्ठुर है—कृष्ण ने भी गोपियों के साथ इसी प्रकार का निष्ठुर व्यवहार किया है। साथ ही भ्रमर की अस्पष्ट 'गुन गुन' कृष्ण के निर्गुण संदेश और उद्धव के निर्गुण उपदेश से मिलती जुलती है। इन सब समानताओं के साथ भ्रमर गोपी विरह-प्रसंग में उपालंभ का विषय बना, और यह प्रसंग विशेषतः जिसमें गोपियों और उद्धव का संवाद है 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ कवियों ने तो उद्धव और गोपी संवाद के बीच में भ्रमर का प्रवेश कराया है और फिर उसके माध्यम से गोपियों का उपालंभ प्रारम्भ किया है। परंतु बाद में 'भ्रमर' उद्धव और कृष्ण की सम्मिलित भावना का प्रतीक हो जाता है। फिर गोपियाँ केवल 'मधुकर' 'मधुप' आदि नामों का उल्लेख मात्र करके अपनी विरह-व्यथा को व्यक्त करती हैं और कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति अपने मनोभावों को प्रकट करती हैं। यहाँ भ्रमर संबंधी भावना और उसका प्रतिकार्य प्रसंग की भूमिका के रूप में ही उपस्थित होकर रह जाता है। परंतु इस प्रसंग में भ्रमर का संयोग उपालंभ की जिस भावना से आरंभ हुआ है वह सदा ही उसी

रूप में चली आ रही है और यह प्रसंग इस प्रकार अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टिकोणों से 'भ्रमरगीत' ही है। यही कारण है कि हम कृष्ण-काव्य के उस प्रसंग को 'भ्रमरगीत' के नाम से पुकारते हैं जिसमें गोपी-विरह उद्धव के सम्मुख 'भ्रमर' का माध्यम लेकर आवेदनशील हो उठा है और जिसमें गोपी-हृदय की व्यथा अपने प्रिय की निर्ममता के प्रति उपालंभ देती है।

× ×

श्रीमद्भागवत धार्मिक ग्रन्थ है; इसमें दार्शनिक विवेचना और धार्मिक प्रतिपादन रूपकों और प्रतीकों के आधार पर किया गया है। परंतु इन धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ इसमें कवित्व भी है। काव्य के दृष्टिकोण से भावनाओं और चरित्र की उद्भावना के क्षेत्र में भागवत-कार नितांत रूढ़िवादी ही है। हिन्दी-साहित्य के धार्मिक-युग में भावों और चरित्रों के क्षेत्र में जो स्वच्छंद-भावना हमको मिलती है, वह इसमें नहीं है। भागवतकार के नंद श्रीकृष्ण की परम-शक्ति से परिचित हैं, यशोदा उनके अलौकिक चरित्र से चकित हैं। श्रीमद्भागवत में सिद्धान्त इसी प्रकार ऊपर आकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में मानवी भावों का विकास अधिक दूर तक दिखाना संभव नहीं था। गोपियाँ मन की प्रारम्भिक स्थिति में स्वाभाविकता अवश्य हैं पर वे अपने भावों को प्रकट करने में सहज नहीं हैं। इन गोपियों के मनो-भावों में प्रेम का सरल उपालंभ न होकर ईर्ष्या और निराशा की वेदना ही अधिक है। यह भावना जैसा कहा जा चुका है धार्मिक से अधिक सामंतकालीन है। गोपियाँ 'स्त्रियों से पुरुषों की मित्रता' और 'भ्रमरों का फूल पर अनुराग' को स्वार्थ-मैत्री का रूप मानती हैं। और इस भावना में नारी-जीवन की वही विवशता बोल रही है जिसने युगों से उत्पीड़न सहन किया है। आगे चलकर भागवत में यही भावना अधिक व्यक्त हो उठती है; जब गोपियाँ 'मधुकर' के माध्यम से कृष्ण के विहार का उल्लेख करती हैं। यहां भक्ति-साधना से अधिक प्रत्यक्ष

हो उठता है नारी के नारीत्व का पक्ष जिसमें वह विवाह और [illegible] में बंधती है और वह कामना की [illegible] में ईर्ष्या मत्सर द्वेष से युक्त होती रहती है। [illegible] भक्ति [illegible] में इस भावना का उन्नयन हो जाता है, और यह भावना विशुद्ध रूप में हमारे सामने आती है। परन्तु [illegible] नहीं है, और न [illegible] आध्यात्मिक दृष्टिकोण का [illegible] प्रधान में गोपियों की कामपीड़ा और मदन-व्यथा ही आलोचित होती जान पड़ती है। कवि में इनकी यह [illegible] भावना कृष्ण के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के [illegible] हो उठता है। हमारे मन पर एक अलौकिक प्रतिबिम्ब बन जाता है; गोपियों की मदन-व्यथा की अनुभूति प्राप्त करना कठिन हो गया है।

हमारे भक्ति-युग में इस भावना में परिवर्तन होता है। इस युग के कवि के लिए विरहानुभूति से अधिक साधना का महत्त्व है। गोपियाँ भक्त-साधक के रूप में आती हैं जो प्रेम के माध्यम से अपनी साधना पूरी कर सकती हैं। प्रेम-भक्ति की विभिन्न स्थितियाँ ही गोपी-जीवन का सत्य है, और विरह व्यथा ही उनकी साधना की चरम अनुभूति की ओर ले जाती है। इस प्रकार गोपियों की विरह-व्यंजना भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति मात्र है; और इस प्रेम में वासनाजन्य विकलता कामजन्य पीड़ा का आभास नहीं मिलता। इसी कारण गोपियों के उपालंभ में ईर्ष्या और द्वेष के लिए अधिक स्थान नहीं रहा है। भक्त-कवि अपने जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में भी सहज और साधारण के ही अधिक निकट रहे हैं। और इन कवियों में भक्ति की भावना भी विशुद्ध है। ऐसी स्थिति में प्रेम का शारीरिक वासनामय आधार एक सीमा तक छूट गया है और प्रेम की भावना के इस विशुद्ध क्षेत्र में वासनात्मक-भाव विलीन हो जाता है; उपालंभ केवल प्रेम की अभिव्यंजना का एक रूप मात्र रह जाता है। इसमें प्रेम को चरम की ओर ले जाने वाला आवेश है, पर काम पीड़ा की जलन

नहीं। भक्ति के विस्तार में आत्मसात् होकर हिन्दी का धार्मिक-काव्य सामंतयुगीन भावना से बहुत कुछ मुक्त हो सका था। भक्त-कवियों की गोपियाँ किसी ऐश्वर्य-प्रिय सामंत की नायिकाएँ नहीं हैं, वे भगवान् के सगुण-रूप की आराधिकाएँ हैं जिनके सामने कृष्ण, भगवान् के अलौकिक सौन्दर्य के प्रतीक मात्र हैं। ये गोपियाँ वियोग की स्थिति में विरह-वेदना का अनुभव अवश्य करती हैं—पर यह वेदना प्रेम-भक्ति का चरम है, काम-पीड़ा का उत्पीड़न नहीं। साधक के लिए यह वेदना प्रेम को अधिक गंभीर और स्थायी बनाती है।

सूर की भक्ति-साधना में माधुर्य-भाव के साथ पुष्टि-मार्ग का समन्वय हुआ है। सूर के इस प्रसंग में इसी कारण प्रेम की व्यंजना के साथ भक्ति का अनुग्रह भी मिल गया है। सूर की गोपियाँ अन्य भक्त-कवियों की गोपियों की भाँति ही भक्ति की प्रतीक हैं जो ज्ञान के विरोध में खड़ी हैं। पर ये गोपियाँ अपनी मनःस्थिति में सहज हैं और इसी कारण इनका विरोध भी कोमल व्यंगों और उक्तियों के आधार पर ही हुआ है। गोपियाँ जिस सरलता से भक्ति-पक्ष को ग्रहण किये हुये हैं, उससे भक्ति-भावना का आकर्षण भी बढ़ जाता है। इस प्रसंग में प्रेम भावों की अभिव्यक्ति के साथ सगुण-रूप की स्थापना और प्रेम-साधना का विकसनशील रूप भी मिलता है। इस प्रकार वियोग के क्षणों में एकान्त-प्रेम की भावना स्वच्छ और परिष्कृत होकर अधिक गंभीर हो उठती है। सूर की गोपियों में आत्मविश्वास की भावना आत्मसमर्पण के समान ही दृढ़ है, इस कारण उनकी व्यथा में न तो किसी प्रकार की ज्वाला है और न उनके उपालंभ में द्वेष का विषाक्त वातावरण ही है। यही भावना आगे के कवियों में भी मिलती है। भक्त कवियों की गोपियाँ वस्तुतः कृष्ण से अपने को भिन्न मानती ही नहीं हैं।

भक्ति-युग के विभिन्न कवियों ने इस प्रसंग के द्वारा गोपियों और उद्धव के संवाद में भक्ति की स्थापना करने का प्रयास किया है।

इसमें अपने दृष्टिकोण से कवियों ने निर्गुण के समक्ष सगुण की स्थापना गोपियों के माध्यम से की है। सूर की गोपियाँ अपनी सरलता में भी चतुर हैं और भावात्मक भी हैं। पर तुलसी की गोपियाँ मुग्ध होकर मौन हैं। वे अपनी मूक भावना को मूक रह कर ही व्यक्त करती हैं। वे उद्धव की बातों को नहीं समझ सकीं और उत्तर नहीं दे सकीं—वस्तुतः वही उनका उत्तर है। नंददास की गोपियाँ अपने पक्ष के प्रतिपादन में तर्क का आश्रय लेती हैं। वे उद्धव को उत्तर देती हैं, और उनकी बातों को भी काटती हैं। पर एक सीमा के बाद वे अपने आप विकल होकर विह्वल हो जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नंददास की गोपियाँ तार्किक होकर भी भावप्रवीण हैं।

नंददास ने अपने 'भ्रमरगीत' के प्रसंग को श्रीमद्भागवत से ही लेकर चलाया है। भ्रमर का प्रवेश भी लगभग उसी प्रकार होता है। इस अनुकरण के कारण नंददास की गोपियों में आत्मविश्वास की वह भावना नहीं मिलती जो सूर तथा अन्य कवियों में मिलती है। वे उद्धव से तर्क करके उनके ज्ञान-सिद्धान्त को काटकर भी अपनी मनोव्यथा से विवश हो जाती हैं और वे अपनी वेदना में काम-पीड़ा का अनुभव करती भी जान पड़ती हैं। ऐसा लगता है नंददास ने भक्ति की स्थापना के लिए तो अपने आचार्यों की तर्कना का आश्रय लिया है, पर भाव और प्रसंग को भागवत के अनुरूप ही रखा है।

इस प्रकार भक्ति-साहित्य की 'भ्रमरगीत' परंपरा में एक ओर भक्ति और ज्ञान का तर्क है जिसमें भक्ति की स्थापना की गई है; और दूसरी ओर भक्ति मार्ग की प्रेम-साधना की अभिव्यंजना है। इस युग के उपालंभ में प्रिय की निर्ममता और निष्ठुरता का संकेत प्रेम की व्यंजना के अर्थ में हुआ है। साधक के लिए तो विरह साधना की परीक्षा का अवसर मात्र है। इस कारण इस उपालंभ में आत्म-निवेदन ही अधिक है। ईर्ष्या और व्यंग इसी में आकर खो जाते हैं।

साथ ही समस्त प्रसंग में गोपियों की भावना का रूप सहज और स्वाभाविक है।

× × ×

मध्य-युग के उत्तर-पक्ष में धार्मिक काव्य की धारा क्षीण होती गई और रीति काव्य की परंपरा अधिक प्रबल होती गई है। रीति-काल के कवियों को किसी विषय का आकर्षण उसी सीमा तक था जिस सीमा तक उनको उससे अपने काव्य-शास्त्र के उदाहरणों को जुटाने में सहायता मिल सकती थी। यह युग विचित्र था जिसमें भूषण जैसे विद्रोही और स्वतंत्र प्रकृति के कवि को भी अपनी वीर भावना को अलंकारों की सीमाओं का बंदी बनाना पड़ा है। पर इस परंपरा के कवियों ने इस निरूपण के अन्तर्गत कृष्ण और गोपियों को नायक और नायिकाओं के रूप में स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार इन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग को भी विप्रलंभ-शृंगार के अन्तर्गत उपालंभ के रूप में ले लिया है। उपालंभ के अन्तर्गत व्यंग रहता ही है और उसके आधार पर कुछ अलंकारों के उदाहरण रूप में भी इस प्रसंग को स्थान मिला है। इस प्रकार इस युग में 'भ्रमरगीत' कोई स्वतंत्र विषय नहीं हो सका। इन कवियों में इस प्रसंग का कोई क्रमिक रूप नहीं मिलता और न भ्रमर आदि के प्रवेश का उल्लेख ही होता है। केवल 'ऊधो' और 'मधुप' आदि संकेतों के आधार पर ही प्रसंग समझ लेना होता है। साथ ही रस के अन्तर्गत आने वाले उदाहरणों में भाव की प्रधानता रहती है, जबकि अलंकारों के उदाहरणों में अधिकतर उक्ति-वैचित्र्य ही है।

रीति-काल के कवियों ने आचार्य्यत्व निभाने का प्रयास भी किया है; परंतु ये कवि ही अधिक हैं, आचार्य्य का कार्य तो इन्होंने परंपरा निभाने के लिए ही किया गया है। इनके पूर्व ही संस्कृत-काव्य-शास्त्र के विभिन्न वादों का विकास हो चुका था, और अन्त में रस की ही प्रमुखता स्वीकार की गई थी। हिन्दी-साहित्य के रीति-कालीन कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर अधिकांश

लिया है। ये अपने मौलिक मत से किसी वाद के अन्तर्गत नहीं आते। परंतु फिर भी कवित्व के दृष्टिकोण से इन कवियों में कुछ रस-सिद्ध कवि और कुछ अलंकार-सिद्ध कवि कहे जा सकते हैं। इन कवियों के भ्रमरगीत प्रसंग संबंधी काव्य में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण दिखाई देता है। मतिराम, रहीम और देव आदि कवियों में मानव-जीवन का आग्रह ही अधिक है, और इसी कारण इनके काव्य में रस की ही प्रधानता है। यद्यपि इन कवियों ने अलंकारों के उदाहरण के रूप में भी इस प्रसंग का उल्लेख किया है; परंतु इन स्थलों पर भी भावना व्यंजनापूर्ण ही अधिक है। दूसरी ओर सेनापति और दास ने इस प्रसंग में विचित्रता और चमत्कार लाने का प्रयास किया है। पद्माकर में दोनों ही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। रस के अन्तर्गत विप्रलंभ-शृंगार के रूप में यह प्रसंग अधिक भावात्मक है और इसके द्वारा प्रेम की व्यंजना हुई है। परंतु अलंकारों के वैचित्र्य के लिए अधिकतर ज्ञान और भक्ति के भेद या सामञ्जस्य का रूप लिया गया है अथवा कुबरी की बंकता को लेकर व्यंग किया गया है।

इस काव्य-परंपरा में उपालंभ की भावना भक्ति साधना की प्रेम-व्यंजना से छूट चुकी थी। इसमें उपालंभ साधारण जीवन से संबंधित हो जाता है। परंतु श्रीमद्भागवत की गोपियों की भावना से इसमें भेद रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि भक्ति-परंपरा का प्रभाव इन कवियों पर है। और दूसरा कारण है कि इस प्रसंग में गोपियाँ साधारण नारी हैं। इनको अपने नायक की निष्ठुरता के प्रति आक्रोश है, पर उसका कारण उसकी कामुकता नहीं जान पड़ती। वह आक्रोश तो साधारण परिस्थिति-जन्य वियोग के कारण ही लगता है। इन कवियों ने न तो भ्रमर की बात ही स्पष्ट रूप से कही है और न कृष्ण को स्त्रियों को उपभोग करके छोड़ देने वाला नायक ही माना है। रहा कूबरी का प्रसंग, वह तो हास्य और व्यंग

साथ ही समस्त प्रसंग में गोपियों की भावना का रूप सहज और स्वाभाविक है।

× × ×

मध्य-युग के उत्तर-पक्ष में धार्मिक काव्य की धारा क्षीण होती गई और रीति काव्य की परंपरा अधिक प्रबल होती गई है। रीति-काल के कवियों को किसी विषय का आकर्षण उसी सीमा तक था जिस सीमा तक उनको उससे अपने काव्य-शास्त्र के उदाहरणों को जुटाने में सहायता मिल सकती थी। यह युग विचित्र था जिसमें भूषण जैसे विद्रोही और स्वतंत्र प्रकृति के कवि को भी अपनी वीर भावना को अलंकारों की सीमाओं का बंदी बनाना पड़ा है। पर इस परंपरा के कवियों ने इस निरूपण के अन्तर्गत कृष्ण और गोपियों को नायक और नायिकाओं के रूप में स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार इन्होंने भ्रमरगीत प्रसंग को भी विप्रलंभ-शृंगार के अन्तर्गत उपालंभ के रूप में ले लिया है। उपालंभ के अन्तर्गत व्यंग रहता ही है और उसके आधार पर कुछ अलंकारों के उदाहरण रूप में भी इस प्रसंग को स्थान मिला है। इस प्रकार इस युग में 'भ्रमरगीत' कोई स्वतंत्र विषय नहीं हो सका। इन कवियों में इस प्रसंग का कोई क्रमिक रूप नहीं मिलता और न भ्रमर आदि के प्रवेश का उल्लेख ही होता है। केवल 'ऊधो' और 'मधुप' आदि संकेतों के आधार पर ही प्रसंग समझ लेना होता है। साथ ही रस के अन्तर्गत आने वाले उदाहरणों में भाव की प्रधानता रहती है, जबकि अलंकारों के उदाहरणों में अधिकतर उक्ति-वैचित्र्य ही है।

रीति-काल के कवियों ने आचार्यत्व निभाने का प्रयास भी किया है; परंतु ये कवि ही अधिक हैं, आचार्य का कार्य तो इन्होंने परंपरा निभाने के लिए ही किया गया है। इनके पूर्व ही संस्कृत-काव्य-शास्त्र के विभिन्न वादों का विकास हो चुका था, और अन्त में रस की ही प्रमुखता स्वीकार की गई थी। हिन्दी-साहित्य के रीति-कालीन कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर अधिकांश

लिखा है। वे अपने मौलिक मत से किसी वाद के अन्तर्गत नहीं आते। परंतु फिर भी कवित्व के दृष्टिकोण से इन कवियों में कुछ रस-सिद्ध कवि और कुछ अलंकार-सिद्ध कवि कहे जा सकते हैं। इन कवियों के भ्रमरगीत प्रसंग संबंधी काव्य में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण दिखाई देता है। मतिराम, रहीम और देव आदि कवियों में मानव-जीवन का आग्रह ही अधिक है, और इसी कारण इनके काव्य में रस की ही प्रधानता है। यद्यपि इन कवियों ने अलंकारों के उदाहरण के रूप में भी इस प्रसंग का उल्लेख किया है; परंतु इन स्थलों पर भी भावना व्यंजनापूर्ण ही अधिक है। दूसरी ओर सेनापति और दास ने इस प्रसंग में विचित्रता और चमत्कार लाने का प्रयास किया है। पद्माकर में दोनों ही प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। रस के अन्तर्गत विप्रलंभ-शृंगार के रूप में यह प्रसंग अधिक भावात्मक है और इसके द्वारा प्रेम की व्यंजना हुई है। परंतु अलंकारों के वैचित्र्य के लिए अधिकतर ज्ञान और भक्ति के भेद या सामञ्जस्य का रूप लिया गया है अथवा कूबरी की चंचलता को लेकर व्यंग किया गया है।

इस काव्य-परंपरा में उपालंभ की भावना भक्ति साधना की प्रेम-व्यंजना से हट चुकी थी। इसमें उपालंभ साधारण जीवन से संबंधित हो जाता है। परंतु श्रीमद्भागवत की गोपियों की भावना से इसमें भेद रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि भक्ति-परंपरा का प्रभाव इन कवियों पर है। और दूसरा कारण है कि इस प्रसंग में गोपियाँ साधारण नारी हैं। इनको अपने नायक की निष्ठुरता के प्रति आक्रोश है, पर उसका कारण उसकी कामुकता नहीं जान पड़ती। वह आक्रोश तो साधारण परिस्थिति-जन्य वियोग के कारण ही लगता है। इन कवियों ने न तो भ्रमर की बात ही स्पष्ट रूप से कही है और न कृष्ण को स्त्रियों को उपभोग करके छोड़ देने वाला नायक ही माना है। रहा कूबरी का प्रसंग, वह तो हास्य और व्यंग

के लिए ही आया है। गोपियों को कृष्ण के प्रेम के मिलन का ही आत्म-विश्वास है। यह भावना रीति काल के कवियों के अन्तःपुर में भी है। रहीम की गोपी पर ध्यान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो उठती है। रहीम की गोपी का उपालंभ ऐसा है जैसे किसी ग्रामीण नारी का अपने परदेशी पति के लिए हो रहा।

× × ×

आधुनिक युग अपनी चिंतनशील प्रवृत्ति के साथ संधियुग से आरंभ होता है। इस युग में कवि को जीवन की सामूहिक समस्याओं का बोध होने लगा था, और इस कारण साहित्य संकुचित सीमाओं को तोड़ रहा था। परंतु संधिकाल के कवियों में भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, वे उनसे बिलकुल अलग नहीं हो सके थे। भारतेन्दु की प्रतिभा बहुमुखी थी, उनमें भक्ति और रीति की प्रवृत्तियों के साथ आधुनिकता का संयोग पाया जाता है। इनके काव्य विस्तार में जो अनेक स्थलों में भ्रमरगीत संबंधी काव्य मिलता है, उनमें भी इसी प्रकार की विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। इनके पदों में सूर जैसी तन्मयता और प्रेम की गम्भीर व्यंजना है। कवित्तों और सवैयों में विरह संबंधी विप्रलम्भ-श्रृंगार और प्रकृति का उद्दीपन-रूप वर्णित है। किसी किसी स्थल पर उक्तियाँ भी सुन्दर हैं। भारतेन्दु ने भ्रमर का प्रवेश भी इस प्रसंग में कराया है; और उस स्थल पर गोपियों में काम-पीड़ा की व्यथा ही अधिक लगती है। यह स्थल मानों कवि ने नारी-जीवन से चुना है; और उस सीमा पर वह धार्मिक-भावना विस्मृत कर देता है।

संधिकाल के बाद आधुनिक-काव्य में आदर्श की भावना प्रमुख हो उठी है। भक्ति-युग में साधना-क्षेत्र में भाव और चरित्र दोनों ही अलौकिक थे। इस काव्य में कृष्ण महान नायक के रूप में ब्रह्म हैं और गोपियाँ उसकी नायिकाओं के रूप में जीवात्माएँ हैं। रीति-काल में कवियों के सामने प्रमुख विषय था रस-निरूपण और उसके लिए

कृष्ण साधारण नायक थे और गोपियाँ साधारण नायिकाएँ। परंतु आधुनिक-युग में कृष्ण के चरित्र के साथ न तो धार्मिक अलौकिक भावना का सामञ्जस्य हो सका और न कृष्ण को साधारण नायक के रूप में ही स्वीकार किया जा सका। ऐसी स्थिति में कृष्ण अब पुरुषोत्तम थे। इस आदर्श-भावना के फल स्वरूप आधुनिक कवियों ने कृष्ण-चरित्र के अलौकिक भाग के साथ उनके रसिक रूप को भी स्वतंत्र रूप से स्वीकार नहीं किया है। इन कवियों ने अपने अपने ढंग से इस विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस भावना के फल-स्वरूप भ्रमरगीत का उपालंभ-काव्य इस युग में नवीन रूपों में सामने आया है। राष्ट्रीय-भावना से प्रभावित होकर और उसमें आदर्श-भावना को मिलाकर सत्यनारायण कविरत्न ने भ्रमरगीत प्रसंग को केवल यशोदा तक ही सीमित कर दिया है। यहाँ उद्धव नहीं हैं, वरन स्वयं कृष्ण ही भ्रमर के रूप में आते हैं। इसमें माता के हृदय की अभिव्यक्ति के साथ राष्ट्रीय-भावना की व्यंजना भी है।

यही आदर्श-भावना प्रियप्रवास में एक दूसरे रूप में मिलती है। उपाध्याय जी ने कृष्ण के चरित्र के साथ लोक-कल्याण की भावना जोड़ दी है। कथा-प्रसंग सभी प्रकार से औचित्य की सीमा में ही है। इन्होंने भ्रमर और पुष्प का संकेत किया है और उसके माध्यम से नारी की विवशता का भी उल्लेख किया है। परंतु इस विवशता को कवि आदर्श का रूप देकर ही स्वीकार करता है। गुप्तजी हृदय से भक्त होते हुए भी विचारों में आधुनिक प्रगति से पूर्ण परिचित हैं। इस प्रसंग को गुप्तजी ने भक्ति-भावना के चरम-क्षण को व्यक्त करने के लिए ही प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग को लेकर भक्त-कवि या तो भावावेष में प्रेम के क्रमिक विकास को नहीं दिखा सके हैं, और या भक्ति तथा ज्ञान के तर्कों में ही उलझे रह गये हैं। परंतु गुप्तजी ने इस प्रसंग में प्रेम-साधना का पूर्ण विकास दिखाया है। अन्य गोपियां यहां राधा को लेकर ही जैसे सप्राण हैं इससे कृष्ण के चरित्र में अनेक नारियों की भावना सामने

नहीं आ पाती और गोपियों में भी प्रेम परिष्कृत रूप में व्यक्त होता है। गुप्तजी ने उद्धव के द्वारा कृष्ण के चरित्र को पुरुषोत्तम ही चित्रित किया है। कृष्ण के चरित्र 'भरी भरी फिरती है, तेरे अंचल-घन से धरती' द्वारा उद्धव इसी ओर संकेत करते हैं। फिर समस्त गोपियों को राधारूप में स्वीकार करके कवि ने अनेक नारी की भावना को आविष्कार किया है। और राधा का कृष्णमय रूप तो भक्त की चरम-विरहासक्ति का क्षण ही है। गुप्त जी की गोपियां संस्कृत नारियों की भाँति प्रश्नों का उत्तर भी देती हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने इस प्रसंग को पूर्ण भावात्मकता के साथ परिष्कृत रूप में ही उपस्थित किया है।

वर्तमान समय में भी कुछ कवि ब्रज-भाषा काव्य को सजाने में यत्नशील रहे हैं। भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर रतनाकर और डा० रसाल का नाम उल्लेखनीय है। इन कवियों में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट ही है। इन कवियों के समक्ष 'भ्रमर' संबंधी भावना बहुत दूर पड़ गई हैं और इस कारण इन्होंने 'उधव-शतक' के नाम से इस प्रसंग को लिया है। इनके लिए तो यह प्रसंग केवल अपनी कवित्व-प्रतिभा को प्रदर्शित करने का उपयुक्त-क्षेत्र रहा है और इसी लिए ग्रहण किया गया है। रीति-कालीन परंपरा में आने पर भी इन्होंने आधुनिक बुद्धिवाद को नहीं छोड़ा है। इसी कारण रतनाकर में अनुभावों और संचारियों की योजना के साथ तर्क विशेष रूप से चलता है। डा० रसाल तो विशुद्ध बुद्धिवादी हैं और उनके काव्य में तो तर्क ही विशेष है जो अलंकार-वैचित्र्य तथा व्यंजनाओं के माध्यम से अधिक प्रभावशील हो उठा है। भाव-धारा के रूप में किसी प्रकार की मौलिकता हमको इन कवियों में नहीं मिलती। इनके काव्य का सौन्दर्य तो इनकी शैली में ही है।

× × ×

इस 'भ्रमरगीत' परंपरा को समाप्त करने के पूर्व एक बात का संकेत कर देना आवश्यक लगता है। वर्तममान काव्य में छायावाद

एक विशेष प्रवृत्ति रही है। छायावाद विशेषतः एक शैली ही है और इस कारण इसमें प्रत्येक विषय किसी न किसी रूप में आ सकता है। इधर गीतों के प्रचार के कारण इसमें व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यंजना ही अधिक मिलती है। परंतु प्रसाद और निराला ने इसी शैली में 'कामायनी' तथा 'तुलसीदास' जैसे काव्य भी लिखे हैं। इस काव्य-शैली में भ्रमरगीत का रूप भी मिलता है। गुप्त जी ने गोपियों का वर्णन इसी शैली में किया है, परंतु वस्तुतः गुप्त जी इस शैली में अधिक अभ्यस्त नहीं हैं। भ्रमरगीत संबंधी गीत बहुत कम देखने में आए हैं। परंतु इस युग में भ्रमरगीत संबंधी भावना में एक विकास भी दिखाई देता है। पिछले कवियों ने कृष्ण के दुःख की ओर संकेत किया है पर उस ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। परंतु इस भाव-धारा का कवि कृष्ण की मनः स्थिति को उपस्थित करने में प्रयत्नशील है। भ्रमर के रूप में कृष्ण के प्रेम का व्यापक निर्वाह और उसकी कठोरता के प्रति कवि संवेदनशील हुआ है।

"ऊधव ! अलि क्यों गुन गुन करता।"

कृष्ण की इस उक्ति में गोपी के उपालंभ की प्रतिक्रिया है। कवि कहता है कि पुष्प अपने सौन्दर्य और प्रेम के स्वप्न के साथ नष्ट होने का सुख तो पाता है, पर भौंरा की पीड़ा का अनुभव कैसे किया जाय—

"वे मौन व्यथा क्या जानें।
ग्रीष्म झंझा-झकोर में, अपत कटीली डालों पर॥
अलि ! गुगु गुन करता फिरता, क्या मार लिए ना जानें।"

आगे चल कर कृष्ण के विरह की मौन व्यथा को पुरुष के अहं की विवशता के रूप में कवि चित्रित करता है—

"ऊधव व्यथा नहीं कह पाता।"

पुरुष अपने संघर्षों में, जीवन की विवशताओं में, अपने हृदय के कोमल स्वप्नों की व्यथा कहने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है। कृष्ण

अपने जीवन के इस विरोध को व्यक्त करते हैं—

"गोपी-जीवन में पतझड़ है तो वसंत भी छाया।

मेरे मन का पतझड़ ही चिर स्वप्न बना रह जाता॥"

आगे फिर जीवन की विषमताओं की ओर संकेत करते हुए कवि कृष्ण से कहलाता है—

"गोपी-व्रज में बहती शीतल कालिन्दी की धारा।

इस नगरी के तट पर सागर गरज गरज टकराता॥"

और अन्त में कवि स्पष्ट कर देता है कि पुरुष अपनी व्यथा को मूक-मौन क्यों सहता रहता है—

"प्रकृति में नारी ? वे अपना दुःख रो गा लेती।

मैं पुरुष रहा बेचारा व्यथा नहीं कह पाता॥"

वह पुरुष है और इसलिए वह अपनी वेदना को प्रकट करना नहीं चाहता और यही कारण है कि अपनी विवशता और व्यथा को मौन सहता रहता है—प्राणों में उमड़ कर ही वेदना रह जाती है पर नारी उसको निष्ठुर मान लेती है।

[२]

संत-साधक बार-बार जैसे प्रश्न करता है—"अवधू जोगी जगथे न्यारा"। जिस प्रकार नाथ-संप्रदाय को समझने के लिए तंत्र-शास्त्र के सिद्धान्तों और उसकी परंपरा को समझ लेना आवश्यक है; उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के संत-संप्रदाय को समझने के लिये नाथ-पंथ की भूमिका आवश्यक है। यद्यपि कबीर 'अवधूत' को चुनौती देते प्रकट होते हैं; परंतु साथ ही वे उसके किसी रूप से प्रभावित लगते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं। जिस अवधूत को चुनौती देते हुए वे गुरु तक बना डालने को तैयार हैं, वह निश्चय ही गोरखपंथी सिद्ध-योगी ही है। पं० हजारीप्रसाद इस विषय में लिखते हैं—"वस्तुतः ऊपर जिस 'जगथैं न्यारे' अवधूत की चर्चा है वह गोरखपंथी सिद्ध योगी है। कई जगह तो कबीर ने स्पष्टतः ही गोरखनाथ को अवधू कहा है।" इससे

प्रत्यक्ष है कि कबीर के सामने अपने विद्रोही स्वर उठाने के साथ ही गोरखपंथ बहुत ही प्रत्यक्ष था। उन्होंने इस पंथ से बहुत कुछ ग्रहण किया है; और इन पर जो सिद्धों का प्रभाव है वह भी कदाचित् इसी माध्यम से आया है। ऐसी स्थिति में नाथपंथ का अध्ययन संतों की विचार-धारा तथा साधना-पद्धति समझने के लिए परमावश्यक है।

गोरखनाथ का रूप हमारे सामने व्यवस्थापक के रूप में ही अधिक आता है। उन्होंने हठयोग और तांत्रिक प्रणाली को परिष्कृत करके फिर उसे उसके शुद्ध स्वरूप में स्थापित किया है। और भारतीय विचार-धारा तथा साधना-पद्धति में उनका यही महत्व भी है। सामाजिक आचार-व्यवहार तथा अन्य रूढ़ियों के प्रति उनका जो विद्रोही स्वर सुनाई पड़ता है; वह तो सिद्धों की परंपरा से ही इनको प्राप्त हुआ। वस्तुतः बहुत काल से एक ऐसी विचार-धारा भारत में चल रही थी जो श्रुति-विहित मत के विरुद्ध थी; वह उसके कर्म-काण्ड और वर्ण-व्यवस्था आदि के प्रति विद्रोह की भावना रखती थी। गोरख का वास्तविक विरोध तो वामाचार और तंत्र के विकृत स्वरूप से था; जिसको समझ कर उन्होंने योग का प्रचार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरख अपने अन्य विचारों में सिद्धों और सहजयानियों के समान हैं; जब कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों के लिए तंत्र शास्त्र के हठयोग का आश्रय लिया है।

यहाँ हम सिद्धान्तों की विवेचना में न जाकर केवल योग की अन्तर्साधना की परंपरा पर एक दृष्टि डाल लेना ही पर्याप्त समझेंगे। सिद्धान्तों के विषय में निबंध में बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ विशेष ध्यान दिलाने की बात यह है कि गोरख के सिद्धान्तों का स्वरूप इस निबंध में उनकी भाषा में कथित वाणियों के आधार पर ही उपस्थित किया गया है। पं० हजारी प्रसाद ने 'कबीर' में अपने अध्ययन का आधार अधिकतर संस्कृत में लिखित गोरक्षासिद्धान्तसंग्रह को माना है। इन बानियों के आधार पर विवेचना करने से हमको एक बात

स्पष्ट दिखाई देती है। इन बानियों में सिद्धान्तों का रूप अधिक व्यवस्थित तो नहीं है, पर जनता की व्यवहारिकता का ध्यान अवश्य है। इनमें योग की स्थापना कर के भी गोरख आचरण और सहज-जीवन का उपदेश भी करते हैं। साथ ही संतों के सामने गोरख की प्रचलित बानियों का रूप ही होगा। ऐसी स्थिति में 'गोरखबानी' के आधार पर सिद्धान्तों की विवेचना का प्रयास इस दिशा में उपकारी ही होगा।

योग की परंपरा भारतवर्ष में बहुत अधिक प्राचीन है। इसका संबंध वैदिक-काल तक से जोड़ा जा सकता है। परंतु उपनिषद्-काल में चिंतन की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो गई थी। और उस काल में आत्म-तत्व को ही प्रमुख स्वीकार किया गया था; बाह्य जगत् में तो उसी आत्मा का प्रसार मात्र माना गया है। आत्मचिंतन की यह स्थिति ही योग के विकास का आधार है। आत्म-तत्व का परमात्म-तत्व में मिल जाना ही तो योग है। बाद में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति की भावना अधिक होती गई, और साथ ही इन्द्रिय संयम की आवश्यकता भी इस निवृत्ति के लिए थी। परंतु प्रारम्भिक स्थिति में योग का दर्शन आत्मा और परमात्मा का अद्वैत-भाव भी था।

बौद्ध-धर्म भी निवृत्ति प्रधान धर्म था। बाद में हम बौद्ध-धर्म की सरल भावना में दार्शनिक विकास पाते हैं। बौद्ध-धर्म हीन-यान से महायान, और महायान से सहजयान, और सहज-यान से वज्रयान के द्वारा अपना मार्ग तै करता आया है। बौद्धों के धर्म में एक विशेषता यह भी थी—वे आत्मवादी नहीं थे। इसके परिणाम स्वरूप इस धर्म की दार्शनिक चेतना आत्मा और ब्रह्म के आधार पर आगे न बढ़ कर शक्ति और शून्य के द्वारा आगे बढ़ी हैं। बौद्ध-दर्शन के इस विकास के साथ उसमें अन्तर्मुखी साधना का रूप भी स्थापित होता गया। और इस साधना के लिए इन्होंने उपनिषद् के योग और उससे विकसित तंत्र को अपना लिया। वस्तुतः तंत्र-शास्त्र का पूरा विकास बौद्ध-दर्शन के प्रभाव में ही हुआ है। यही कारण है कि उसकी विचार-धारा पर

विज्ञानवाद और शून्यवाद का गहरा प्रभाव है।

धार्मिक-क्षेत्र में जीवन और जगत् के प्रति जो उपेक्षा इतने लंबे समय से दिखाई जाती रही थी; उसकी प्रतिक्रिया का युग भी आया। मध्य-युग की वैष्णव-साधना में जो जीवन का उल्लास दिखाई देता है; और जगत् के प्रति जो आकर्षण दिखाई पड़ता है वह इसी प्रतिक्रिया का एक रूप है। भगवान् की आनन्द-भावना को साधना का विषय बना कर इस प्रकार मध्य-युग ने जीवन का आदर किया है; और संसार को भी एक प्रकार से स्वीकार किया है। इसी प्रतिक्रिया का दूसरा रूप हमको सहज-यानी और वज्र-यानी साधना में भी मिलता है। परंतु जीवन से संधि करके चलने में यदि सुगमता है तो साथ ही पतन की भी आशंका है। और इसी कारण हम देखते हैं कि तांत्रिक साधना आगे चल कर वामाचार आदि के रूप में अत्यन्त वीभत्स रूप में सामने आती है। परन्तु गोरखनाथ ने अपने पंथ में इस साधन को परिष्कृत करके फिर से शुद्ध स्वरूप में स्वीकृत किया है।

परंतु हिन्दी-साहित्य के संतों ने फिर इस साधना के बाह्याचारों के प्रति विद्रोह किया है। गोरखनाथ ने वामाचार के विरोध में अपना स्वर उठाया था; इस कारण उन्हें शरीर-शुद्धि पर बल देना पड़ा है; और आत्म-निग्रह पर भी ज़ोर देना पड़ा था। और यहाँ तक कि उन्होंने योग के चरम-लक्ष्य से अधिक बल साधना के रूप को दिया है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि गोरख के समक्ष लक्ष्य स्पष्ट नहीं था। संतों ने अपनी सहज-साधना में इस हठयोग और उसके शरीर-साधनों को अस्वीकार किया है। उन्होंने जीवन को सहज-रूप में स्वीकार करने में और उसके प्रति निरपेक्ष दृष्टिकोण बना कर रहने में ही अधिक विश्वास दिखाया है। और साधना की इस तैयारी के बाद संत-साधक प्रेम का साधन ग्रहण करता है। फिर प्रेम के चरम-क्षणों में वह उसे भी छोड़ कर आत्मानुभूति प्राप्त करता है। संतों की विचार-धारा को समझने के लिए और उनकी साधना को स्पष्ट रूप

में देखने के लिए उनका यह निर्भीक और अटल वाक्य ध्यान में रखना ही चाहिए:—

'संतो सहज समाधि भली।'

× × ×

मैंने जो कुछ कहा है वह इन निबंधों को दृष्टि में रख कर तो कहा है पर उनके गुण-दोष की विवेचना के दृष्टिकोण से नहीं। इसका एक कारण यह है कि मित्रता के बंधन में हम इतने निकट हैं कि हमारी विवेचना अपनी ही आलोचना के समान हो जाती। और इसके अतिरिक्त काल-गत प्रवृत्तियों का रूप उपस्थित करके इन लेखों को पूर्ण बनाने का भार भी मुझ पर डाला गया है। परंतु अपने प्रयास से मैं स्वयं भी संतुष्ट नहीं हूँ। कारण इस विषय में मेरी अपनी ही अयोग्यता है, और क्या कहूँ!

प्रयाग-विश्वविद्यालय
८ मई ४७

रघुवंश

कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत

श्रीमद्भागवत के क्रोड़ में ही भ्रमरगीत का विकास हुआ है। एक बार कृष्ण ने अपने प्रिय सखा, यादवों के माननीय मंत्री और साक्षात् बृहस्पति जी के शिष्य उद्धव को बुलाकर उनसे कहा, "हे सौम्य उद्धव! तुम शीघ्र व्रज जा कर हमारे माता पिता को प्रसन्न करो और मेरा संदेश सुना कर मेरे वियोग के रोग को (मानसिक ताप) जो गोपिकाओं को सता रहा है शान्त करो। उनका मन मुझमें ही रहता है। मैं उनका जीवन-प्राण हूँ, उन्होंने मेरे लिये पति, पुत्र और परिवार को तज दिया है एवं प्रिय-प्रियतम आत्मा जो मैं हूँ उसे मन के द्वारा पा चुकी हैं। जो लोग मेरी चाह में ऐहिक और पारलौकिक सुख और उनके मिलने की इच्छा छोड़ देते हैं उन अनन्य भक्तों को मैं भी भजता हूँ। हे उद्धव! मैं गोपियों को सबसे अधिक प्रिय हूँ। मैं इतनी दूर चला आया हूँ। अतएव सब समय मेरा ही स्मरण करने के कारण विरह जनित उत्कण्ठा से विह्वल होकर गोकुल की स्त्रियाँ मोहित हो जाती हैं। गोकुल से मथुरा आते समय मैं 'शीघ्र ही आऊँगा' कह कर आश्वासन दे आया था, इसी आशा से किसी प्रकार बड़े कष्ट से वे प्राण धारण किये हुए हैं। इसका कारण यही है कि उनकी आत्मा मुझमें रहती है। यदि ऐसा न होता, उनकी आत्मा उनके शरीर में होती तो अवश्य ही अब तक विरह की आग में भस्म हो जाती।"

कृष्ण के आज्ञानुसार उनका संदेश ले उद्धव गोकुल को ओर चले। इससे स्पष्ट होता है कि यह कृष्ण का संदेश गोपियों के प्रति न था वरन् भगवान् भक्त के ऊपर अनुग्रह कर रहे थे। गोपियाँ अपना आत्मसमर्पण कर चुकी थीं, वे कृष्णमयी हो चुकी थीं, दोनों का शरीर भिन्न अवश्य था पर आत्मा एक। और यही कारण था कि वे जीवित

थीं। भागवतकार ने इस घटना का रूप अलौकिक दिया है।

नंद ने उद्धव का स्वागत किया और कृष्ण का कुशल समाचार पूछा। वे कृष्ण को पुत्र रूप में नहीं देख सके, कृष्ण और बलदेव उनके लिये देवता थे जो देवताओं का कोई महाकार्य सिद्ध करने के लिये ही पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। परन्तु मां का हृदय इसे स्वीकार न कर सका, "पुत्र के कहे जा रहे चरित्र सुन कर यशोदा के नेत्रों में आँसू भर आये और स्नेह के वेग में उनके स्तनों से आपही आप दुग्ध निकलने लगा।" इससे विदित होता है कि भागवतकार इस प्रसंग में कृष्ण को सर्वशक्तिमान् परब्रह्म मानते हुये भी ऐसे पात्रों की कल्पना करता है जिससे प्रसंग धार्मिक रूप ही धारण न करे वरन् उसमें काव्य भी हो जिससे हम विशेष पात्र के मानसिक व्यापार का यथार्थ चित्र पा सकें। परन्तु इसका निर्वाह विशेष रूप से वह नहीं कर सका है। मां के हृदय गत भावों का सजीव मनोवैज्ञानिक वर्णन हमें यहाँ मिलता है। पर पानी के बुलबुला की नाईं शीघ्र ही वह नष्ट हो जाता है।

नन्द-यशोदा का भगवान् कृष्ण में ऐसा अनुराग देख कर उद्धव जी परम प्रसन्न हुए और नन्द जी से यों कहने लगेः—'...कृष्ण और बलभद्र दोनों, इस विश्व के निमित्त कारण और उपादान कारण हैं। ये सब तत्वों में अनुप्रविष्ट रह कर उन तत्वों से विरचित विभेद भाव के और जीव के नियन्ता ईश्वर हैं। ये पुराण पुरुष हैं। महात्मा नंद जी! अन्त समय क्षण भर भी जिनमें विशुद्ध मन लगाने से सब कर्म-वासनाएँ भस्म हो जाती हैं, स्वरूप-साक्षात्कार होता है और शुद्ध सत्व-मूर्ति हो जाने से परम गति प्राप्त होती है। वही विश्व हेतु विश्वात्मा होने पर भी प्रयोजन वश मायामय मनुष्य रूप से अवतीर्ण नारायण महात्मा कृष्ण हैं। उनमें तुम्हारी ऐसी अनन्य भक्ति है। अतएव तुम धन्य हो। तुम कृतकृत्य हो गये।' कृष्णचंद्र ने कहा है—"हम शीघ्र ही व्रज में आवेंगे और माता पिता दोनों की इच्छा पूर्ण करके प्रसन्न करेंगे।"......हे महाभाग नन्द जी! और महाभागा

यशोदा जी ! तुम खेद न करो, शीघ्र ही अपने निकट कृष्णचन्द्र को देखोगे; क्योंकि वह लकड़ियों में अग्नि के समान सब प्राणियों के हृदयान्तर में विराजमान हैं।......उनके माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि नहीं हैं, और न कोई अपना है न पराया। वह शरीर रहित अजन्मा है। वह अकर्मा है। किन्तु जन्म-कर्महीन होकर भी वह अपनी क्रीड़ाओं से साधुजनों के कष्ट मिटाने के लिए सत्, असत् और मिश्र अर्थात् सात्विक, राजस, तामस; अथवा देव, मत्स्य, नृसिंह आदि योनियों में प्रकट होते हैं।......भगवान हरि केवल तुम्हारे ही पुत्र नहीं हैं। वरन् सब के पुत्र, आत्मा, पिता, माता स्वामि आदि सब कुछ हैं।"

उद्धव के ज्ञानोपदेश के सन्मुख यशोदा नतमस्तक थीं। हृदय की टीस सिहरन बन रुक गई वह अवाक् हो गईं, कृष्ण उनके कोई न थे ! यशोदा का शान्त हो जाना हमारे हृदय को शान्त नहीं कर पाता, ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतकार अपने विचारों को हम पर लादना चाहता है। यशोदा के पूर्व मनोवेग के वर्णन का आकस्मिक ह्रास ठीक नहीं लगता है।

गोपिकाओं को संतोष न था, वे मानवी थीं साथ ही उनके पास हृदय था जिसमें कृष्ण की सजीव मूर्ति थी। रथ को देख वे खीज उठीं और कहने लगीं, "अब क्यों आया है ? क्या अब हमारे कृष्ण रूप प्राण से रहित शरीरों के मांस से अपने मरे हुए स्वामी (कंस) को पिण्डदान कर प्रसन्न करेगा ?" कितनी स्वाभाविक भावना थी, वे समझ रही थीं कि संभवतः अक्रूर आये हैं। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये कृष्ण के सखा हैं तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। नारी सुलभ लज्जापूर्ण हास्य, कटाक्ष और मधुर वचनों से उद्धव का सत्कार करते हुए गोपियों ने कहा—"हम जानती हैं कि तुम यदुपति के सेवक हो ! पिता माता को प्रसन्न करने के लिये ही तुम्हारे स्वामी ने तुमको भेजा है; इसी से तुम यहाँ आये हो। नहीं तो इस व्रज में कोई भी वस्तु हमको ऐसी नहीं देख पड़ती, जिसकी कभी उन महापुरुष को याद

आती हो। उन्होंने माता-पिता का स्मरण किया हो तो ठीक ही है, क्योंकि मुनि लोग भी बन्धुओं के स्नेहानुबन्ध को सहज में नहीं छोड़ सकते। बन्धुओं के सिवा अन्य लोगों से जो मित्रता की जाती है सो किसी न किसी प्रयोजन से की जाती है। जब तक कार्य नहीं सिद्ध होता तभी तक मित्रता का अनुकरण मात्र किया जाता है, कार्य निकल जाने पर इस मैत्री का अन्त हो जाता है। स्त्रियों से पुरुषों की मित्रता और भ्रमरों का फूलों पर अनुराग, ऐसी ही स्वार्थ मैत्री का उदाहरण हैं।" यह कृष्ण के प्रति गोपिकाओं का उपालंभ था। उन्हें कृष्ण पर या उनके सेवक पर विश्वास नहीं था और न उनको इसकी आशा ही थी कि कृष्ण कभी उनके बारे में सोचते होंगे। अपने प्रियतम को हर ले जाने वाले से वे कितना चिढ़ी हुई थीं, उनकी बातों से ही ज्ञात होता है।

गोपियाँ दुःखी थीं वे समझती थीं कि उद्धव उनसे मिलने नहीं आये हैं वरन् नंद और यशोदा से मिलने आये हैं। कृष्ण उनके लिये निर्गुण ब्रह्म नहीं थे, प्रियतम थे। उन्हें विश्वास था कि कृष्ण उन्हें नहीं भूलेंगे पर अब वे समझ रही थीं कि पुरुषों की मैत्री अस्थिर होती है उसमें स्वार्थ होता हैं, और इसे नारी हृदय सहन नहीं कर सकता था। यह सब होते हुए भी वे अबला थीं, रो उठीं, पूर्व स्मृति जाग्रत हो गई और वे लोक लाज छोड़ कृष्ण के चरित्रों का गान करने लगीं। इसी बीच एक भौंरा "गुन-गुन" करता हुआ आया। उसे कृष्ण का दूत समझ वे कहने लगी; "हे धूर्त के बन्धु मधुकर! तुम हमारे चरणों को न छूओ; तुम्हारे श्मश्रुओं में सौत के कुचमण्डल में विहार करने वाली माला में लिप्त कुङ्कुम लगा हुआ है। मधुपति कृष्ण ही, यादवों की सभा में उपहास कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इस प्रसाद को नहीं चाहतीं। तुम्हारी और कृष्ण की बन्धुता ठीक ही है। क्योंकि जैसे तुम सुमनों का रस लेकर छोड़ जाते हो वैसे ही एक बार मोहनीमय अधर सुधा पिला कर वह भी चटपट हमको छोड़ चले गये।

इसको आश्चर्य है कि इतनी चंचल लक्ष्मी कैसे उनके चरण कमलों का सेवन करती है? कदाचित कृष्ण के "उत्तमश्लोक" इस नाम ने उसके हृदय को हर लिया है? किन्तु हम लक्ष्मी के समान अविवेकिनी नहीं है। इस स्थल पर ईर्ष्या की भावना अपने चरम पर थी, वे नहीं चाहती थीं कि भौंरा जिसका संबंध उनके सौतों से हो चुका है उनका स्पर्श भी करे। भौंरे और कृष्ण में समानता दिखाकर काव्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह कृष्ण के प्रति उनका उपालंभ था। इसका यह मतलब नहीं कि वे कृष्ण से संबंध छोड़ रही थीं इसे हम उनका 'मान' कह सकते हैं। वे अपनी भूल पर पछता रही थीं। अब उन्होंने जाना कृष्ण के लिए बातें नई नहीं हैं पूर्व इतिहास भी बतलाता है कि, वह बड़े क्रूर हैं; उन्होंने रामावतार में व्याध की भाँति वानरराज बाली को एक बाण से मार डाला। वास्तव में वे व्याध से भी बढ़ कर हैं। क्यों कि व्याध तो मांस के लिये जीवों को मारता है परन्तु उन्होंने वृथा ही बाली को मारा। इसके सिवा स्त्री के वशवर्ती होकर उन्होंने रावण की भगिनी स्त्री जाति शूर्पणखा के नाक कान काट कर उसको विरूप बना दिया। ऐसे ही वामन अवतार में राजा बली की दी हुई बलि लेकर फिर उसको बँधवा कर स्वर्ग से निकाल रसातल को भेज दिया। अतएव बस, हमें उन काले कृष्ण की मित्रता की चाह नहीं है। यदि कहो कि "फिर तुम क्यों उनकी कथा कहा करती हो तो हे मधुकर! उनकी चर्चा छोड़ना महा कठिन है—सहज नहीं है।" इस उक्ति से उनकी विह्वलता और विवशता का कुछ अनुमान मिलता है। वे अपने से ही हार चुकी थीं।

कृष्ण रसिक हैं और बहुत सी सुन्दरियाँ उन्हें वहाँ मिल चुकी होंगी इस भाव ने उनके हृदयों में ईर्ष्या की विशेष भावना फिर से जाग्रत कर दी और उन्हें बहुत कुछ कहने पर बाध्य किया। यही कारण था कि भ्रमर के फिर से लौट आने पर उन्होंने कहा; "हे मधुकर! तुम क्यों हमारे निकट बारबार आकर कृष्ण की कीर्ति गाते हो?

हम अनेक वार उनके शील स्वभाव का अनुभव प्राप्त कर चुकी हैं, वे हमारे लिए नवीन नहीं हैं; पूर्वपरिचित पुराने हैं। तुमको यदि कृष्ण की कीर्ति गाकर कुछ लाभ उठाना है तो अर्जुन के मित्र कृष्ण की वर्तमान सखी जो मथुरापुरी की स्त्रियाँ हैं उनके आगे जाकर गाओ। वे कृष्ण की प्यारी हैं, कृष्ण ने हृदय से लगाकर उनके मानसिक ताप को शान्त किया है, अतएव वे ही प्रसन्न होकर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगी। भ्रमर के बहाने उद्धव पर ही यह आक्षेप किया गया है कि तुम वहीं हो सत्कारित हो सकोगे जहाँ कृष्ण रम रहे हैं?

इतना होते हुए भी वे कृष्ण को नहीं भूल सकतीं थीं, वे उनसे प्रेम करती थीं, और प्रेम के प्रांगण में दोष का मूल्य नहीं। वे अपने स्वभाव से लाचार थीं, भौंरे को बारंबार आता देख वह यही समझती थीं कि वह प्रियतम का संदेश लेकर आया है पर उन्हें विश्वास नहीं होता था। इसको उन लोगों ने स्पष्ट रूप से कहा, "जैसे अबोध मृगी, व्याध के कपट पूर्ण मधुर गान पर विश्वास कर व्यथा को प्राप्त होती है वैसे ही हम भी कुटिल कृष्ण की बातों पर विश्वास कर बारंबर उनके नख स्पर्श से उत्पन्न तीक्ष्ण मदन व्यथा को सह रही हैं। अतएव हे दूत! उनकी बातें छोड़कर और बातें करो।" वे उद्धव की बातें सुन सकती थीं अगर उसका संबंध कृष्ण से न हो। साथ ही गोपिकाओं का प्रेम कृष्ण के प्रति वासनापूर्ण था और अब भी वे मदन से व्याकुल हैं इस ओर भी उन्होंने खुले शब्दों के द्वारा संकेत किया है।

गोपियाँ अपने आप से लाचार हो चुकी थीं वे उनके हाथों बिक चुकी थीं। सब दुःख सहन करने के बाद भी उनके हृदय में कृष्ण को छोड़ और कोई नहीं था। कृष्ण ने उनका परित्याग कर दिया था पर वे अपने जीवन सर्वस्व को कैसे भूल सकती थीं, उनके ही सुख में तो उनका भी सुख निहित था और इसीलिये उन्होंने पूछा, "हे सौम्य! आर्यपुत्र कृष्ण महाराज क्या गुरुकुल से लौट कर मथुरापुरी में विराजमान हैं? अहो! अगर और चन्दन से अनुलिप्त सुगन्धित अपनी

सुना कि वह अब हमारे सिर पर धरेंगे।" वे आशा नहीं छोड़ पा रही थीं, मिलने की अभिलाषा अब भी उनके हृदय में थी। नारी अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ आँखों में बरसात लिये प्रियतम के संयोग सुख की प्रतीक्षा कर रही थीं।

इतने में उद्धव ने कृष्ण का संदेश गोपियों को सुनाया। उन्होंने कहा कि भगवान ने कहा है—"प्रियागण! मेरा वियोग तुमको कभी नहीं हो सकता, मैं देहधारियों की आत्मा होने के कारण सदा तुम्हारे पास हूँ। जैसे पृथ्वी, जल तेज वायु, आकाश, ये पाँचों महा-तत्त्व सब तत्त्वों में अवस्थित हैं वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुणों का आधार स्वरूप हूँ। मैं पंचतत्व इन्द्रिय और त्रिगुण—स्वरू-पिणी अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा अपने को अपने में उत्पन्न करता, पालन और लीन करता हूँ।" ... "तुम्हारे नयनों का तारा मैं तुमसे इतनी दूर इसलिये हूँ कि तुम सदैव मेरे ही ध्यान में लवलीन रहो—तुम्हारा मन सब समय मेरे ही निकट रहे। प्रियतम के दूर रहने पर स्त्रियों का चित्त हर घड़ी उसी में लगा रहता है। किन्तु प्रियतम यदि आँखों के आगे पास रहता है तो यह बात नहीं होती। इस प्रकार तुम सब वासनाओं से शून्य शुद्ध मन को मुझमें लगा कर नित्य मेरा ध्यान करने से शीघ्र ही मुझे पाओगी।" गोपियाँ इस संदेश को समझ भी सकीं चिन्त्य है। अंतिम उक्ति उनके अनुकूल थी पर उसका अंत क्या होगा समझ सकने में असमर्थ थीं।

तर्क अकाट्य था। भोली-भाली गोपियाँ ज्ञान के भँवर में फँस गईं, उन्हें प्रियतम के संदेश पर विश्वास हो गया। उद्धव के मुख से प्रियतम की आज्ञा सुन वे प्रसन्न हुईं और उनको भगवान का संदेश सुनने से शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनके कृष्ण के हाथों दुष्टों का नाश हुआ साथ ही त्याग की भावना भी जाग्रत हुई। उन्हें अब इसका दुःख न था कि कृष्ण नहीं आये वरन् वे लालयित थीं यह जानने के लिये कि, "श्रीकृष्णचन्द्र हमसे

जैसी प्रीति करते थे वैसी ही प्रीति, पुरनारियों के स्नेह पूर्ण लज्जायुक्त हास्य, उदारता व श्रद्धा से मनोहर कटाक्षों द्वारा पूजित होकर, उनसे भी करते हैं—या नहीं ?" वे जानती थीं कि यह स्वाभाविक है, जिस प्रकार वे उनपर अनुरक्त हुई वैसे ही दूसरी स्त्रियाँ भी अनुरक्त हो सकती हैं, "कृष्ण चन्द्र स्वयं रतिचतुर हैं और पुरनारियों के प्रिय भी हैं, तब वह उनके वचन और विभ्रमों से पूजित होकर, कैसे न उनपर अनुरक्त होंगे ?" उन्हें अब इसकी चिन्ता नहीं रह गई। वे इतने से ही संतुष्ट थीं कि वे कृष्ण कभी कभी उनका भी याद कर लिया करें। उनके दर्शन की अभिलाषा के लिये अब वे जी रही थीं। गोपिकाओं के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन अस्वाभाविक प्रतीत होता है। भागवतकार को यही ईष्ट था तो गोपिकाओं की ईर्ष्या का वह वर्णन उचित न था जो हम ऊपर देख चुके हैं। इसका पुष्टि इससे भी होती है कि वे इतना कह कर ही विलाप करने लगीं, "हे नाथ! हे रमानाथ! हे ब्रजनाथ! हे आर्तिनाशन! हे गोविन्द! यह आपका गोकुल दुःख के सागर में मग्न हो रहा है, शीघ्र इसको उबारो।"

भागवत की गोपियाँ सरल हृदया भोली-भाली स्पष्ट वक्ता नारियों के प्रतीक रूप में आती हैं। वे समझती थीं कि वे इस योग्य नहीं हैं कि कृष्ण को संतुष्ट कर सकें क्योंकि वे गँवारिन हैं। प्रेम वे करती थीं पर उसमें दैन्यभाव की स्पष्ट छाया दिखलाई पड़ती है। कृष्ण के न आने से वे दुःखित थीं साथ ही साथ ईर्ष्या की भावना भी उनमें थी परन्तु कृष्ण के संदेश को सुन वे पानी हो गईं और यह उनकी सरलता का सुन्दर उदाहरण है। इतनी बुद्धि तो उनमें थी नहीं कि उद्धव की बातों का या कृष्ण के संदेश का उत्तर दे सकतीं, वे केवल इतना चाहती थीं कि कभी कभी कृष्ण याद कर लिया करें और आकर दर्शन दे जावें। यह सब होते हुए भी वे अपने अश्रुओं को न रोक सकीं उन्होंने अपने प्रियतम को आर्तभाव से बुलाया और यह ध्यान दिलाना नहीं भूलीं कि वे ही नहीं गोकुल भी दुःख के

सागर में फँसा है और केवल उन्हीं का भरोसा है। भक्ति के ऊपर ज्ञान ने विजय पाई। भागवतकार ने इस प्रकार इस अध्याय में ज्ञान की महिमा दिखलाई है। काव्य की दृष्टि से भागवत का यह प्रसंग संतोषजनक नहीं है, वर्णनात्मक है। भागवत की गोपियाँ उदार हृदया हैं, वे दूसरों के दुःख को समझने की शक्ति रखती हैं। उद्धव के द्वारा कृष्ण के ज्ञानोपदेश को वे आज्ञा के रूप में ग्रहण करती हैं। कहा नहीं जा सकता उन्हें इससे शान्ति मिली थी या नहीं? भागवतकार ने यशोदा एवं गोपियों के श्मशान पर अपने प्रासाद का निर्माण किया है। इसमें संदेह नहीं कि उनके प्रेम पर ज्ञान की अन्तिम विजय हुई है।

यह वह नींव है जिसपर भ्रमरगीत का विकास हुआ। अन्य-भक्त, रीति-कालीन कवियों एवं आधुनिक कवियों ने इस प्रसंग पर जो काव्य लिखा वह चिरंतन सत्य है। विरह की अनन्त धारा वह निकली जिसमें हम अपने जीवन के सुख दुःख के तारों को हिलता हुआ पाते हैं। मनोविज्ञान की अपूर्व छटा इस प्रसंग में हमें दिखलाई देती है। काव्य सौन्दर्य भी विशेष मात्रा में मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि कथा का आधार तो भागवत ही रहा है परन्तु उसका विकास कवियों ने स्वतंत्र रूप मे किया जिसमें भक्ति की विजय ज्ञान पर होती है। तुलनात्मक दृष्टि से अगर हम भ्रमर गीतों का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि जिस प्रासाद का निर्माण उन लोगों ने किया उसमें मौलिकता थी, नवीनता थी, और व्यंजना का पूर्ण सहयोग था।

सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे, इनमें से एक तो भागवत का ही अनुवाद है और दो मौलिक हैं। जो भ्रमरगीत भागवत का अनुवाद है उसमें ज्ञान वैराग्य की ही विशेष चर्चा है पर अंत में विजय भक्ति की ही होती है। यह भ्रमरगीत चौपाई छन्दों में है। उद्धव गोपियों से कहते हैं;

"हौं तुम पै ब्रजनाथ पठायो। आतमज्ञान—सिखावन आयो॥"

इसके बाद ही उद्धव शिक्षा देना आरम्भ करते हैं, वे कहते हैं कि कृष्ण तो—

"आपुहि पुरुष, आपुही नारी। आपुही वानप्रस्थ व्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुही माता। आपुहि भगिनि, आपुही भ्राता॥

× × ×

रंक राव दूजो नहिं कोय। आपुहि आप निरंजन सोय॥
यहि प्रकार जाको मन जागे। जरा, मरन, जी तें भ्रम भागे॥"

गोपियों पर इस ज्ञानोपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें आश्चर्य होता है कि उद्धव ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं :—

"ननु ऊधौ! यों कौन सयानी? । तुम तो महा पुरुष बड़ ज्ञानी॥"

और—

"ऐसो हरि सों जोगहि जाने नवधा भक्ति सदा मन लागे॥"

[illegible] भी, उन्हें इन गोपियों ने क्या सम्बन्ध था। रहे उद्धव [illegible] तो [illegible] नासमझी क्योंकि ;

"[illegible] नहिं जानै। बिनु देखे कैसे रुचि मानैं?

[illegible] रूप हो और था—

"[illegible], [illegible], [illegible]। क्यों बिसरैं वै नयन बिसाल॥
[illegible] सुंदर [illegible]। [illegible] सोहन मन हरे हमारे॥
[illegible] अधर मुरली कल बाजै॥
[illegible]। मृदु मुसकानि [illegible]॥
[illegible]। [illegible] ज्ञान की जोती॥
[illegible]। [illegible] नाहीं॥"

[illegible] कि—

"[illegible] लागी॥

× ×

[illegible] नाहीं॥
[illegible] में नाहीं [illegible]॥

परन्तु उद्धव का कहना भी किसी ने ... नहीं था वे समझती थीं कि योग का संदेश कुब्जा की प्रेरणा से आया है कृष्ण का ऐसा नहीं है, क्योंकि वे तो स्वयं भोगी हैं। उन्होंने साफ कह दिया कि—

"हार चार मे चलत सिधारे। अति विरोधी ज्ञान तुम्हारे॥
होत कहा उपदेसे मेरे? नवल सुदन नाहीं, चलि, मेरे॥"

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह भ्रमरगीत भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है। भागवत की गोपियाँ कृष्ण के संदेश का विश्वास कर लेती हैं परन्तु इन्हें तो विश्वास ही नहीं होता कि कृष्ण ऐसा कह भी सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह सामान्य कोटि की रचना है इसमें अधिक विशेषता नहीं।

अन्य दो भ्रमरगीत पदों में हैं। इनमें से एक में उद्धव गोकुल जाकर कहते हैं कि—

"ऊधो को उपदेस सुनौ किन कान दै?
सुंदर स्याम सुजान पठायौ मान दै।"

उद्धव को देख गोपियाँ प्रसन्न हो जाती हैं और उनका हृदय से स्वागत कर सम्मानित करती हैं। उद्धव गोपियों का प्रेम देख मग्न हो जाते हैं। उद्धव की सहृदयता सूर की मौलिकता है। उनके ज्ञान का गर्व छूट जाता है और जिस प्रकार—

"तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोइयो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरु समोइयो॥
जो मत मुनिवर ध्यावहीं पर पावहिं नहिं पार।
सो मत सीखो गोपिका, 'हो' छाँड़ि विषय-विस्तार॥"

इसे सुन गोपियों की अवस्था दीन हो गई, ऐसा ज्ञात होता था—

"मनो सुधा सों सींचि आनि विष ज्वाला जारे॥"

पर गोपिकाएँ उद्धव के बहलावे में नहीं आने वाली थीं, भला—

[illegible] कि —

"जा दिन तें हम तुम तें बिछुरे काहु न कह्यो "कन्हैया"।
कबहुं प्रात न कियो कलेवा, सांझ न पीन्ही छैया ॥"

[illegible] इतना था कि—

"कैसी धेनु सँभारि राखियो और अबेर सवेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो ॥"

साथ ही [illegible] से उन्होंने कहा कि—

"मुरलि सँदेस सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु।"

क्योंकि :—

"काम पावक तूलमय तन बिरह स्वास समीर।
भसम नाहिं न होन पावत लोचनन के नीर ॥"

[illegible] होता है कि कृष्ण का संबंध गोपिकाओं से सात्विक [illegible] प्राधान्य था। परन्तु उद्धव को भ्रम में [illegible] उन्हें उत्साहित करने के लिए कहा कि :—

[illegible] ! [illegible] निश्चय जानो।
[illegible] तुम्हें पठावत ब्रज को तुरत पठानो ॥
[illegible] नाहिं तुम ही ज्ञाता।
[illegible] नाहिं पितु माता ॥
[illegible] माहिं में भासति।
[illegible] बिना नहि भासति ॥
[illegible] किया
[illegible] वे अपने
[illegible] थीं। उन्हें
[illegible]

[illegible] ?
[illegible] पूछति है बातें ॥
[illegible] की अपुनी सुख आहि ?

× × ×

को ब्यापक पूरन अबिनासी, को बिधि-वेद-अपार ?
सूर वृथा बकवाद करत हौ या ब्रज नंदकुमार ॥"

उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उद्धव जब बार बार आते हैं तो उनके लिए वह उपयुक्त स्थान नहीं—

"जोग जंत्र साधन ते ऊधौ ये सब हैं दुख भारी ॥

जोग की ठगई को वे भली भाँति समझती रहीं, उन्होंने कहा कि वे इतनी भोली-भाली नहीं हैं जो इसके बहकावे में आ जाएँ। क्या गुण को छोड़ कोई निर्गुण लेता है। उद्धव से उन्होंने कहा—

"जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधौ ऐसोई फिरि जैहै ॥"

'न बिकैहै' शब्द के द्वारा उद्धव का उपहास करती हुई और अपना दृढ़ निश्चय प्रकट करती हुई वे कहती हैं कि हम तुम्हारी किसी भी बात को सुनने के लिये तैयार नहीं। वे निर्गुण है या सगुण इसका तो प्रश्न उठता ही नहीं—अरे!

"हमरे गति पति कमलनयन की जोग सिखै ते रांडें।
कहौं, मधुप, कैसे समाहिंगे एक म्यान दो खाँडें ॥"

गोपियाँ कृष्ण को पति के रूप में देखती थीं और इसी से उन लोगों ने अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कह दिया कि ज्ञान मार्ग उनके लिए नहीं है। यह सब कहते हुए भी उन्होंने अपनी बुद्धि के द्वारा उद्धव को परास्त कर उनके ज्ञान गर्व को हरण कर लिया। वे निर्गुण को स्वीकार कर सकतीं थीं परंतु अगर वे उसे अपनी आँखों से देख लें तब। उन्होंने कहा कि वे प्रत्यक्ष प्रमाण चाहतीं हैं। एक ओर तो—

"देखत सुनत नाहिं कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति कर ध्यावत।"

दूसरी ओर—

"सुन्दर स्याम दयालु कृपानिधि कैसे हौं बिसरावत।"

"श्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥"

उद्धव से चुटकी लेती हुई गोपियाँ उनसे पूछती हैं आखिर तुम आये ही क्यों ? अगर आये तो ये भी ईश्वर ने तुम्हें आँखें दी थीं उनसे काम लेते । तुम्हें समझना चाहिये—

"तुम जो जोग मत सिखावन आए, भस्म चढ़ावन अंग ।
इन बिरहिन में कहुँ कोउ देखी सुमन गुहाये मंग ?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी ।
यहाँ तरल तरिवन कहँ देखे अरु तनसुख की सारी ॥"

बिचारे उद्धव को क्या मालूम था कि गोपियाँ स्वयं जोगिन हैं । योग का आरोप प्रेम पर करते हुए उन लोगों ने सिद्ध किया कि प्रेम भी एक योग है । प्रेम के द्वारा वे कैसे उसे पा सकती हैं ? यह वे विस्तृत रूप से उद्धव को बतलाती हैं—

'मन वच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम योग-तप साध्यो ।
मातु-पिता-हित-प्रीत निगम-पथ तजि दुख-सुख-भ्रम नाग्यो ॥
मान अपमान परम परितोषी अस्थिर चित मन राख्यो ।
सकुचासन, कुल सील परस करि, जगत बंध करि बंदन ॥
लोकऽपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकंदन ।
गुरुजन-कानि, अगिनि चहुँ दिसि, नभ-तरनि-ताप बिनु देखे ॥
पिवत धूम उपाहास जहाँ तहँ, अपजस श्रवन अलेखे ।
सहज समाधि बिसारि वपुकरी, निरखि निमेख न लागत ॥
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी धरत यहै निसि जागत ।
त्रिकुटी सँग भ्रूभंग तराटक नैन नैन लगि लागे ।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चंद्र सूर अनुरागे ॥
मुरली अधर श्रवन धुनि से सुनि अनहद शब्द प्रमाने ।
बरसत रस रुचि-बचन-संग, सुख-पद-आनंद समाने ॥
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को ।
सूर, कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीको ॥"

गोपियाँ इतनी दृढ़ चुकीं थीं कि लौकिक धर्म की उन्हें चिन्ता ही न रह गई थी और न लोक-मर्यादा का ही ध्यान रह गया था। वे तन्मय हो चुकी थीं और कृष्ण को छोड़ कोई भी उनका नहीं था। जिस प्रकार मीराँ ने कहा है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।"

और इस सत्य का अनुभव कर लेने के बाद उसने अपने से ही कहा,

"अब काहे की लाज सजनी प्रकट ह्वै नाची।"

उसी प्रकार गोपियाँ भी दृढ़ थीं और उन्हें लोक लाज, मान अपमान, माता पिता किसी की भी चिन्ता न थीं। उन्होंने उद्धव को चुनौती दी कि अगर इससे भी अधिक सरस वस्तु दिखा सको तो हम स्वीकार करेंगी और नहीं तो इसे छोड़ तुम्हारे निर्गुण को कौन ले? योग उनके लिये कोई नई वस्तु नहीं और न है कोई नया संदेश। वे तो इसे उस दिन से ही जानतीं हैं—

"जा दिन तें सुफलक सुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यो।
जा दिन तें सब छोड़-मोह मिटि सुत-पति-हेत भुलान्यो॥
तजि माया संसार सार की ब्रज बनितन मत ठान्यो।
नयन मूँदि, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो॥
नंदनंदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो।"

गोपियों ने सगुण दीप के प्रकाश में उद्धव को दिखलाया कि तुम्हारी स्वयं क्या स्थिति है, जैसे तेज को पा मोम अपना अस्तित्व खो देता है उसी प्रकार हमारे इस तेजोमय दीप के सन्मुख तुम्हारा ज्ञान गर्व एवं उसका आधार निर्गुण नष्ट हुआ जाता है। साथ ही यह भी बतला देती हैं कि इस प्रज्ज्वलित अग्नि का कारण तुम हो तुम्हारे मित्र हैं और काम है जिनसे हम व्यथित हैं। दीप कैसा है; इसका भेद बतलाते हुए गोपियों ने कहा—

"सुनि ऊधो! भृकुटी त्रिवेदि तर निसि दिन प्रगट अमारयो॥
सब के उर-सरवनि सनेह भरि सुमन तिली को वारयो।

गुन अनेक ते गुन, कपूर सम परिमल बारह मास्यो ॥
बिरह-अगिनि अंगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो ।
ताके तीन फुँकैया हरि से, तुम से, पंचसरा स्यो ॥
आन-भजन तृन सम परिहरि सब करतीं जोति उपास्यो ।
साधन. भोग निरंजन तें रे अंधकार तम नास्यो ॥
जा दिन भयो तिहारो आवन बोलत हौ उपहास्यो ।
रहि न सके तुम, सींक रूप ह्वै निगुन-काज उकास्यो ॥
बाढ़ी जोति सो केस-देस लौं, टूट्यो ज्ञान-सवास्यो ।
दुरवासना-सलभ सब जारे जे छै रहे अकास्यो ॥"

उद्धव का आना गोपिकाओं को नहीं खला । वे समझती थीं उद्धव ने आकर उनका उपकार ही किया है । उन्हें अवसर दिया अपने को कसौटी पर घिस कर देखने का और जो भी कमी हो उ पूर्ण करने का। अभी तक उन्होंने इस विषय पर गंभीर रूप विचार नहीं किया था, परन्तु कृष्ण का मूल्य अब और भी बढ़ ग था। इसके पूर्व केवल कृष्ण के प्रति उनका प्रेम एकान्त धारण किये हुये था पर अब प्रकट हुआ, जिसे हम प्रेम का चरम क सकते हैं। उद्धव की प्रशंसा करते हुए गोपियों ने कहा—

"विधि-कुलाल कीने कांचे घट ते तुम आनि पकाए ।
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए ॥
गलन न पाए, नयन-नीर तें अवधि घटा जो छाए ।
ब्रज करि अवाँ, जोग करि ईंधन सुरति अगनि सुलगाए ॥
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराए ।
भए सँपूरन विरह प्रेम जल, छुवन न काहू पाए ॥"

निर्गुन और उसके उपासकों के प्रति उनके हृदय में सम्मान नहीं थ वे समझती थीं कि वे माया के चक्कर में फँसे हैं और इसका प्रम है स्वयं उद्धव । गोपिकाओं ने देखा—

"इन द्रुमों तौ आगे मधुकर मत्त न्याय सतरात ।

फिरि चाहैं तौ प्रान नाथ उत सुनत कथा मुसकात ॥
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे जे निगु`न जस गात ।
सूरदास जेहि सब जग बहक्यो ते इनको बहकात ॥"

सूर की गोपियाँ भागवत की गोपियों की तरह गँवारिन नहीं थीं और न भोली-भाली थीं। सगुण पक्ष की ओर से अच्छी बहस उन्होंने की और वह भी मनमानी नहीं। उनकी प्रत्येक उक्ति किसी न किसी सिद्धांत को लेकर हो है जिसका उत्तर उद्धव के पास न था। इन पदों को देखने से ज्ञात होता है कि निर्गुण ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म की महत्ता स्थापित करने के लिये इस अंश को सूरदास जी ने इतना पूर्ण बनाया है। इस युग में भक्ति और ज्ञान में भीषण संघर्ष चल रहा था। सूर के पूर्व संत धारा के कवियों ने ज्ञान की महत्ता स्थापित की थी और सगुण मार्ग की खिल्ली उड़ाई थी। कबीरदास जी ने त्रिदेवों को माया से उत्पन्न माना और मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया। इसकी प्रतिक्रिया भक्त कवियों में दिखलाई पड़ी और उन्होंने भक्ति को ही मुक्ति का साधन मानते हुए ज्ञान की अनुपादेयता सिद्ध की और बतलाया कि यह मार्ग कठिन है। तुलसी ने भी ज्ञान मार्ग को तलवार की धार बतलाया और निर्गुण दीप जला कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

"कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय ज्यों त्यों प्रत्यूह अनेक ॥"

इसका यह मतलब नहीं था कि भक्त कवि निर्गुण ब्रह्म से द्वेष रखते थे सूरदास ने अनेक स्थलों पर 'अविगत' एवं अव्यक्त की महिमा गाई है। उसी प्रकार तुलसी के राम भी 'विधि हरि संभु नचावन हारे' थे। भक्ति के साथ ज्ञान का योग वे आवश्यक समझते थे। भक्ति हृदय का साधन है इसीलिये भक्त कवि विशेष रूप से इधर झुके हैं।

सूर के भ्रमरगीत का क्षेत्र विस्तृत था। उसमें केवल प्रश्नोत्तर ही नहीं अन्य विषय भी हैं। गोपियाँ उद्धव से बातचीत कर चुकी थीं।

उस संबंध में उन्हें अब कुछ नहीं कहना था। समय कटता जाय इसलिये जहाँ गोपिकाओं ने उद्धव के सिद्धांतों का खंडन किया वहीं अनन्य भोलेपन से चुटकी लेती हुई उद्धव से पूछने लगीं—

"निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?"

उन्हें संदेह था—कदाचित उद्धव के ब्रह्म के माता पिता का ठिकाना है भी या नहीं ? कृष्ण को बचाती हुई उद्धव से चिढ़ कर उन्होंने कहा—

"साधु होय तेहि उत्तर दीजे तुमसों मानी हारि ।
याही तें तुम्हें नँद नंदन जू यहाँ पठाए टारि ॥"

एक बड़ी विशेषता जो सूर की गोपियों में हम पाते हैं वह यह है कि भागवत की गोपियों की नाईं वे कृष्ण को स्वार्थी एवं पर स्त्री-गामी नहीं समझतीं। उन्हें विश्वास था कि—

"श्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाए तुम हो बीच भुलाने ।"

परंतु वे उद्धव के आने से [illegible] नहीं थीं। उन्हें कृष्ण के संदेश को सुन कर भी [illegible] नहीं हुआ क्योंकि उन्हें विश्वास ही नहीं था कि संदेश कृष्ण [illegible]। वे [illegible] थीं—

"ये बातें [illegible] तुम ब्रज के लोग हँसाये ।"

[illegible] उन्हें पता [illegible] थीं। वे [illegible], [illegible]—

"[illegible] धाम ॥"

[illegible] सुनातीं। [illegible] था। [illegible]—

[illegible] केवल "निमोही" शब्द का ही प्रयोग करती हैं। इतना होते हुए भी उनके ईर्ष्या की भावना नहीं थी। वे समझती थीं कि कृष्ण अब अपनी [illegible] पर [illegible] रहे हैं और बेचारे लज्जा के मारे नहीं आ रहे हैं—

"आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिसान्यो।
[illegible] [illegible] ढाँढ़ धरि आसो सुन्दर स्याम पियारो॥
[illegible] [illegible], भरी [illegible] कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो।"

उन्हें इस बात की चिन्ता ही नहीं थी कि इस प्रेम-लीला का अंत क्या होगा। उनका प्रेम चरम पर पहुँचा हुआ था और वे उसके परिणाम की [illegible] नहीं थीं। उद्धव ने उन लोगों ने कहा कि हमारी चिन्ता न [illegible] [illegible]—

"ऊधो! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै॥"

[illegible] [illegible] [illegible] था—

"[illegible] [illegible] सुनो, ऊधो! जल बिनु मीन जियो।"

[illegible] [illegible]—

"[illegible] प्रभु [illegible] [illegible] मन बिस्वास कियो।"

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] आलिङ्गन की दृष्टि से नहीं [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] परगया।

[illegible] [illegible] [illegible]—

[illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible]॥"

[illegible]

[illegible]

विह्वलता इतनी बढ़ी हुई थी कि कोई भी पथिक उधर से जाता तो उससे अपना संदेश कहना नहीं भूलतीं थीं। फल यह हुआ कि—

"सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं अवन करे॥"

कितनी स्वाभाविक भावना है। यह देखा गया है कि स्त्रियाँ प्रायः उधर जाने वाले को जहाँ उनके प्रिय रहते हैं संदेशा कहलाती हैं और विशेष कर यह प्रथा ग्रामीण नारियों में मिलता है क्योंकि वे लिखना नहीं जानतीं।

उद्धव ने देखा कि कृष्ण के चले जाने से उनका मस्तिष्क विकृत हो गया था, दृष्टिकोण बदल चुका था, वे अस्त-व्यस्त हो चुकी थीं। इसका संकेत हमें तब मिलता है जब वे विरहावस्था में कहती हैं—

"चंदन चंद्र हुतो तब सीतल कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल॥
हार, चीर, कंचुकि कंटक भए, तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कंदरा, सर्प सुमन-मनि-माल॥"

अवस्था सोचनीय था, वे जड़ता को प्राप्त हो रही थीं। दिनचर्या यही थी कि—

"जोवत नग द्यौस द्यौस बीतत जुग समान।
चातक-पिक वचन सखी! सुनि न परे कान॥
चंदन अरु चंद्र किरन कोटि मनो भानु।"

क्षोभ होता था और उद्विग्नता बढ़ती थी जब वे देखती थीं—

"जुवती लखे भूषन रन आतुर मनो प्रान।
भीषम ज्यों डसि मदन अर्जुन के बान॥"

उन्हें तो मर जाना चाहिए था पर वे जिन्दा थीं। क्योंकि—

"सोवति सर-सेज सूर चलत चपल प्रान।
दच्छिन-रवि-अवधि अटक इतनी पै जान॥"

गोपियों की तुलना भीष्म से करना कवि की विशेषता है और उप-

कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन; भँवर न तहँ उड़ि जात ।
हरिमुख-कमल कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ॥"

हाँ उपमा की सार्थकता केवल एक स्थान पर दिखलाई देती है और वह है—

"सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त ।"

कृष्ण को देखने के बाद से ही उन लोगों ने अपने को बदल दिया—

"हरि मुख निरखि निमेख बिसारे ।
ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे ।
घूँघट-पट छाँड़े बीथिन महँ अहनिसि अटत उघारे ॥"

और अब तो [illegible] छोड़ कर—

"निसदिन बरसत नैन हमारे
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे ।"

इस मानसिक हार पर भी वे अधिक समय तक नहीं टिक सकीं । प्रकृति और उसके साथ का पूर्व संबंध उनके सन्मुख आया । उद्धव को तो भूल ही चुका था । अब अपनी सुधि भी न रही, गोपिकाओं का विरह उन तक सीमित न रहा, प्रकृति के खुले क्षेत्र में पहुँचा । कृष्ण के अभाव में वे ही कुंज जो आनन्द-प्रद थे दुखदायी हो गये और शरद की आभा देख उनके हृदय में भी एक टीस उठी, इसलिये नहीं कि कृष्ण यहाँ नहीं थे वरन्

"कबहुँ [illegible] चातक नहि [illegible] स्वाति जल पायो ॥"

[illegible] भी गंभिल नहीं । सावन के दिन [illegible] और बढ़ी । वे देख रही थीं—

"[illegible], सिंह सब सीतल सावन के ।"

[illegible] हो गया, और [illegible]—

"[illegible] सावन है ।"

"चातक कुल की पीर जानि कै तेउ गहौं हैं चाप ॥"

और इधर कृष्ण हैं जिनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। इतना सब होते हुए भी वे अपने स्वभाव से लाचार थीं उन्हें विश्वास नहीं होता था कि कृष्ण इतने निष्ठुर होंगे। वे सोचने लगती हैं—

"किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ?
किधौं वहि इंद्र हठिहि हरि बरज्यो, दादुर खाए सेसनि।"

अब रही राधा! उद्धव के ज्ञानोपदेश के खंडन की बात तो दूर रही उसके पास तो शब्द भी न थे कि कुछ कह सके। देखने वालों ने देखा—

"अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम जल अंतर-तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी॥
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥"

[illegible] ही मौन सखी—

"वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कही।
एक दिवस मेरे गृह आए मैं ही मथति दही॥
देखि तिन्हें मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही।"

[illegible] भाव है। यह मौन निवेदन विरह का चरम बिंदु [illegible] है। गोपियों ने एक बार से कहा—

"फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ।
[illegible] माखन खात कबहुँ, देहौं देन लुटाय॥
[illegible] न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय।"

[illegible] दिखलाई देती थी और अपने [illegible] कहने का नहीं [illegible] कही जाती है कि यहीं [illegible] थी। [illegible] किया जाता थी [illegible] चुकी है। [illegible] नहीं। [illegible] पूछने पर [illegible] उन्होंने [illegible]

[illegible] गिर जाए।
[illegible]॥"

[illegible] की [illegible]

का साकार रूप कह सकते हैं। वियोग वर्णन को पढ़ कर ऐसा ज्ञात होता है कि वह अस्वाभाविक है और कवि ने अत्युक्ति का सहारा लिया है, पर यह अत्युक्ति नहीं वरन् विरहिणियों की वह अवस्था है जिसमें वे अपने आप को ही भूल गई हैं, बुद्धि की फिर कौन कहे। उनका दुःख अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। उसे हम अपने जीवन के बिखरे कणों में देख सकते हैं। ग्वाल बाल, गौ, प्रकृति सभी कृष्ण के आने की राह देख रहे हैं और उनके विरह में व्याकुल हैं। रीति आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थायें मानी हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण, कथन, उद्वेग-प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा एवं मरण। यह सभी इसमें हैं। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, 'सूर का विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।'

सूर के भ्रमरगीत संबंधी पदों में हम प्रेमी प्रेमिका के सब प्रकार के संबंध और उनके कार्यों का आभास पाते हैं। साथ ही दाम्पत्य की भी जो सांस्कृतिक छटा देखने को मिलती है उसमें गौरव है और है मर्यादा की भावना। पर सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रेम की ऐसी तीक्ष्ण धारा बह रही थी जिसके सम्मुख उद्धव ऐसे ज्ञानी व्यक्ति भी नहीं खड़े रह सके। प्रेम के उस अलौकिक प्रवाह को देख वे स्तब्ध रह गये और उसे छू कर पूत हुए। पवित्र प्रेम और त्याग के सम्मुख ज्ञान निर्बल सिद्ध हुआ। सूर ने इस प्रकार भक्ति मार्ग या प्रेम मार्ग की सुगमता दिखलाई है। डा० रामकुमार वर्मा के विचारानुसार उन्होंने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है।

राधा की कल्पना और उसके चरित्र का विकास सूर की मौलिकता है। भागवत में राधा नहीं आतीं। सूर ने राधा को जिस रूप में इस प्रसंग में रखा है वह भारतीय मर्यादित नारी का प्रतीक बन जाता

है। इस प्रसंग में वह कुलवधू के रूप में आती हैं।

तुलसीदास जी ने भी भ्रमरगीत लिखा है। भ्रमर के आने का तो वर्णन नहीं मिलता, हां मधुकर शब्द उद्धव के लिये प्रयुक्त हुआ है। तुलसीदास जी के भ्रमरगीत की विशेषता गोपियों का स्वाभाविक सारल्य है। मर्यादा की भावना विशेष रूप से मिलती है जो किसी भी कृष्ण साहित्य के कवि में नहीं मिलती है। ऐसा ज्ञात होता है कि गोपियाँ स्पष्ट रूप से बोलने में झिझकती थीं और उनमें लज्जा विशेष है। चाहते हुए भी वे मर्यादा का उलंघन नहीं करना चाहतीं। यही कारण है कि कृष्ण विशेष रूप से फटकार सुनने से बच जाते हैं। एक तो इसे हम कमी नहीं समझते; अगर है भी तो इस कमी का कारण तुलसी का भक्ति विषयक दृष्टिकोण ही कहा जा सकता है।

सूर की गोपियों की तरह तुलसी की गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म संबंधी अनेक संभव प्रश्न का उत्तर तर्क द्वारा या उक्तियों द्वारा नहीं देतीं। उन्हें न इसकी ही चिन्ता है कि हम सगुण की महत्ता स्थापित करें और निर्गुण को असाध्य सिद्ध कर दें। वे अंध विश्वासी भक्त एवं सरल ग्रामीण रूप में आती हैं। परंतु उनका अंध विश्वास भागवत की गोपियों की तरह नहीं कि जो कुछ उद्धव ने कह दिया वे मान गईं या भागवत की गोपियों की तरह अपनी मदन-व्यथा को उद्धव से कहती हैं। वे उद्धव से बातें करती हैं परन्तु यह समझ कर कि उनकी बातें कोई अर्थ नहीं रखतीं।

कृष्ण के चले जाने के बाद उनकी क्या दशा हुई वे व्यक्त करती हैं—

ब्रज तें जब तजि गए कन्हाई।
तब तें बिरह-रबि उदित एक रस सखि बिछुरनि वृष पाई।

× ×

[illegible] चकोर, मन मोर, कुमुद मुद सकल बिकल अधिकाई।
[illegible] नयन मन-भाति मुखन लागी परी कुम्हलना भाई॥

मान मलीन दिन हीन दूबरे, दसा दुसह यह आई ॥

चित को चकोर, मन को मोर, शरीर को तड़ाग, बल को बारि, कुरूपता को काई कहना तुलसी की अंतर्दृष्टि का यथेष्ट प्रमाण है; यहाँ अलंकार भाव का सहायक हो जाता है। शरीर की ही अवस्था सोचनीय नहीं थी बुद्धि ने भी काम करना छोड़ दिया था। उन्हें दिखाई देता था—

"ससि तें सीतल मोको लागै माई री ! तरनि।"

क्योंकि—

"याके उए बरति अधिक अँग अँग दव, वाके उए मिटति रजनि-जनित जरनि ॥"

और इस अवस्था में अपनी इंद्रियों पर भरोसा ही क्या?

"बिछुरत श्रीब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, ह्वै न गए सखि स्याम मई ॥"

एक तो कृष्ण का वियोग? आवश्यकता थी कोई ढाढस बँधाने वाला मिलता, पर आये उद्धव वह भी जोग का उपदेश देने। गोपियों को भी आश्चर्य हुआ? भला वे गँवारिन और कहाँ ज्ञानी उद्धव! उन लोगों ने किंचित मुसकान के साथ व्यंग पूर्वक पूछा—

"काहे को कहत बचन सँवारि।
ज्ञान ग्राहक नाहिनै ब्रज मधुप अनत सिधारि।
जुगुति धूम बघारिबे की समुझिहैं न गँवारि ॥
जोगि जन मुनि मंडली मों जाइ रीती ढारि।
सुनै तिन्ह की कौन 'तुलसी' जिन्हहिं जीति न हारि।
सकति खारो किया चाहत मेघहू को बारि ॥"

सूर की गोपियों की भाँति ही उन्हें अपने प्रियतम में विश्वास था। भागवत की गोपियों की नाईं वे कृष्ण के संदेश का विश्वास नहीं कर लेती। वे जानती थीं कि उनका रसिक व्यक्ति ऐसी बातें क्यों कहने लगा और इसीलिये उद्धव ने कहा—

मधुप तुम्ह कान्ह ही की कहीं क्यों न कही है?
यह बतकही चपल चेरी की निपट चरेरीऐ रही है।

कब ब्रज तज्यो, ज्ञान कब उपज्यो ? कब विदेहता लही है ॥

और उन्हें भला इससे मतलब ही क्या है ? उन्हें मुक्ति की भी तो आवश्यकता नहीं—

"वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं ।
जोग जुगुति अरु मुकुति विविध-विधि वा मुरली पर वारौं ॥"

मार्ग उनका सरल है। उन्हें किसी से सलाह नहीं लेनी है, इसलिये उद्धव को उन्होंने समझाया कि तुम भूलते हो, हम उस चक्कर में नहीं आने की हैं। यह हमारी हठ धर्मी नहीं, परंतु हमारा निश्चित मत है, जिसका आधार स्पष्ट है—

"सरल सुलभ हरि भगति-सुधाकर निगम पुराननि गाई।
तजि सोइ सुधा मनोरथ करि करि को मरि है, री माई ॥"

प्रमाण देने पर भी उद्धव ने जब उनका पिंड नहीं छोड़ा तो उनके चलते कृष्ण को भी कुछ जली कटी सुननी ही पड़ी—

"भली कही, आली ! हम हूँ पहिचाने।
हरि, निर्गुन निर्लेप निरपने निपट निठुर निज काज सयाने।
ब्रज को विरह, अरु संग महर को, कुबरिहि बरत न नेकु लजाने ॥"

एक चोट कृष्ण पर भी पड़ी। इतना सब होते हुए भी वे उद्धव को दोष नहीं देतीं, दोष तो उनका ही है—

"'तुलसी' जौन गए प्रीतम सँग प्रान त्यागि तनु न्यारो।
तौ सुनिबो देखिबो बहुत अब, कहा करम सों चारो ?"

भूल तो हो ही चुकी थी, करना ही क्या था। पर नारी-हृदय अपने प्रियतम के संबंध में ऐसी वे सिर पैर की बातें नहीं सुनना चाहती थीं। जब नहीं रहा गया तो उद्धव से ही उन्होंने कहा कि क्यों हम जीवित हैं इसका कारण भी सुन लो, फिर जो उचित हो करना—

"सुनत कुलिस सम बचन तिहारे।
चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जातें जात न प्रान हमारे।
ज्ञान कृपान समान लगत उर बिहरत छिन छिन होत निनारो ॥

अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि, यातें तनु रहत सहत दुख भारे।
पावक विरह समीर-स्वास तनु तूल मिले तुम्ह जारनिहारे॥
तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे।
जीवन कठिन, मरन की यह गति दुसह विपति ब्रजनाथ निवारे॥
"तुलसिदास" यह दसा जानि जिय उचित होइ सो कहौ पति प्यारे।"

इससे अधिक उन्हें कुछ कहना नहीं था और वे गवाँरिन कह भी क्या सकती थीं, उद्धव को ही उन्होंने पंच मान लिया। ईर्ष्या की भावना का कुछ संकेत हमें तब मिलता है जब वे कहती हैं—

"सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज आनियहि मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी॥

× × ×

देखिबो बरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ, लघु हानी॥

फिर भी वे. अपने को हीन नहीं समझती थीं, उनके वाक्यों से गर्व टपकता है जो की उनके स्वभाव के अनुकूल है—

"गए करते, घर तें, आँगन ते ब्रज हू तें ब्रजनाथ।
तुलसी प्रभु गयो चहत मनहुँ तें सो तो है हमारे हाथ॥"

तुलसी की गोपियाँ भागवतकार एवं सूर की गोपियों से नितान्त भिन्न हैं। भागवत की गोपियाँ अच्छी तरह उद्धव को और साथ ही कृष्ण को फटकारती हैं। कुछ हद तक वाद-विवाद भी चलता है जिसका अंत गोपियों की पराजय में होता है और जिसका कारण हम उनका सारल्य कह चुके हैं। परंतु यहाँ तुलसी की गोपियाँ उनसे भी भोली बन जाती हैं। इन बेचारियों के तो बुद्धि भी नहीं कि उनकी एक भी बात को समझ सकें, बस अपने पुराने विश्वास को दृष्टि पथ में रखते हुए इनकी बातें सुन भर लेती हैं। ईर्ष्या की जितनी भावना या मिलने की जो भी अभिलाषा वहाँ हम देख चुके हैं यहाँ नहीं दीख पड़ती। बस, कुछ लाभ की बात ही वे कह पाती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे दुःखी नहीं थीं और इसलिये सूर की गोपियों की

भाँति अपने विरह की अन्तःस्थिति को वे स्पष्ट नहीं कर सकी या फूट कर रो नहीं सकीं। पीड़ा कम नहीं थी, भेद केवल इतना था कि उद्धव के सम्मुख वे उन बातों को कहना नही चाहती थीं क्योंकि—

"अलि, पहिचानि प्रेम की परमिति उतरु फेरि नहिं दीजै॥"

जब नहीं रहा गया वे कुछ बोल कर चुप रह गईं। सूर की गोपियाँ भी यहाँ प्रेम की व्यंजना पद्धति में इनसे पिछड़ जाती हैं।

यही कारण है कि तुलसी के भ्रमरगीत में न तो विरह की संपूर्ण अवस्थायें ही हमें मिलती हैं, न दाम्पत्य जीवन का रूप मिलता है और न प्रकृति का ही सहयोग प्राप्त होता है। यह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि गोपियों का कहने का जी चाहता था पर गला रुंध जाता था; आँखें उठती थीं फिर गिर पड़ती थीं। तुलसी का भ्रमरगीत उतना व्यापक और विस्तृत नहीं है जितना सूर का। पर मर्य्यादा का गांभीर्य तुलसी में अधिक है। यह तुलसी के भ्रमरगीत की सबसे बड़ी विशेषता है। कृष्ण-काव्य का यह प्रसंग तुलसी के हाथों विशेष रूप से सवाँरा गया है जिसकी तुलना और किसी से नहीं की जा सकती।

भ्रमरगीत संबंधी दो फुटकर कवित्त कवितावली में भी मिलते हैं जिनका संबंध कुबरी से है—

"जोग कथा पठई ब्रज को, सब सो सठ चेरी की चाल चलाकी।
ऊधो जू! क्यों न कहै कुबरी जो बरी नट नागर हेरि हलाकी॥
जाहि लगै पर जानै सोई, 'तुलसी' सो सुहागिनि नंदलला की।
जा नी है जानपनी हरि की अब बाँधियैगी कछु मोटि कलाकी॥"

आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी शैली पर रीति-कालीन कवियों ने भ्रमर गीत संबंधी कवित्त लिखे हैं।

उद्धव को व्रज भेजने का क्या कारण था यह कवि ने नहीं बतलाया है और न कृष्ण का संदेश ही यहाँ मिलता है। नंद और यशोदा के प्रति भी संदेश भी नहीं मिलता। राधा भी अनुपस्थित है। उद्धव आदि से अंत तक वहाँ मौन रहते हैं।

नंददास के भ्रमरगीत का प्रारंभ—

"ऊधौ कौ उपदेस, सुनौ ब्रज नागरी।"

से होता है। सूरदास के समान ही नंद ने भी उद्धव के भेजने का कारण नहीं स्पष्ट किया है। इसमें भी कृष्ण का संदेश न गोपियों के प्रति है न नंद और यशोदा के प्रति। राधा का भी उल्लेख नहीं मिलता। भागवत और सूर में उद्धव संदेश-वाहक के रूप में आते हैं। जो कृष्ण ने कहा, वे कह देते हैं। उनका अपना हठ वहाँ नहीं मिलता। परंतु नंद के उद्धव स्वयं शास्त्रार्थ करते हैं। गर्व की मात्रा यहाँ उद्धव में विशेष रूप से प्रतीत होती है। साथ ही नीति कुशल भी जान पड़ते हैं। उपदेश कर लेने के बाद पहले ये गोपियों की प्रशंसा करते हैं ताकि ये उनकी बात में फँस जायँ। ये कहते हैं—

"रूप, सील, लावन्य, सबै गुन आगरी।
प्रेमधुजा, रसरूपिनी, उपजावनि सुख-पुंज॥
सुन्दर स्याम विलासिनी, नव बृंदावन-कुंज।
सुनौ ब्रजनागरी॥"

फिर वे क्यों आये हैं इसको समझाते हुए कहते हैं—

"कह्यौ स्याम संदेस एक, मैं तुम पै लायौ।"

श्याम शब्द को सुनते ही गोपियाँ विह्वल हो गईं। प्रियतम के नाम और संदेश शब्द का क्या प्रभाव स्त्रियों पर पड़ सकता है इसका सुन्दर चित्र कवि ने खींचा है। जिसे पढ़ कर उनकी कृष्ण के प्रति प्रेम की गंभीरता एवं तन्मयता स्पष्ट हो जाती है—

"सुनत स्याम कौ नाम ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनँद-रस हृदय, प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अँग भये, भरि आये जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
बिवस्था प्रेम की॥"

प्रियतम के सखा को अपने सम्मुख देख वे अपने आवेगों को रोकती

हैं और उनका स्वागत करती हैं। उद्धव कुशल-क्षेम कह लेने के बाद ही गोपियों से कहते हैं कि—

"बूझन ब्रज-कुसलात कौं, हौं आयौ तुम तीर।
निशि है थोर हौस मैं, जिनि जिय होहु अधीर॥
सुनौ ब्रज बासिनी॥"

यहाँ फिर उनके आने का समय बताते हुए उद्धव गोपिकाओं के हृदय और बुद्धि पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। संभवतः उद्धव को संदेह था कि सीधे सीधे अगर हम ज्ञान करना शुरू कर दें तो कहीं ऐसा न हो कि वे बिगड़ जायँ और हमारी कुछ सुने ही नहीं।

[illegible] माधुर्य के स्मरण से गोपियाँ जड़ता की अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं, [illegible] हम प्रेम की चरम स्थिति कह सकते हैं—

"सुनि मोहन-संदेस, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आनन कमल, अंग आवेस जनायौ॥
बिह्वल ह्वै धरनी परीं, ब्रज बनितन मुरझाइ।
दै जल-छींट प्रबोधहीं, ऊधौ बात बनाइ॥
सुनौ ब्रजवासिनी॥"

[illegible] गोपियाँ [illegible] ज्ञात होता है कि गोपियाँ [illegible] अपनी ही कहती जाती [illegible] कि उद्धव ने अपने कहे का [illegible] भी मौन हैं। परंतु नंद की [illegible] और एक एक का [illegible] और इसे इस प्रकार [illegible]—

[illegible]
[illegible]

नीर, धरा, पाषान में, जल थल माहिं अकास ।
सचर अचर वरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास ॥
सुनौ ब्रजबासिनी ॥"

इस पर गोपियाँ पूछती हैं—

"कौन ब्रह्म की जोति ? ज्ञान कासों कहौ ऊधौ ?
हमरे सुंदर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ।
नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहन रूप दिखाइ ॥
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगौरी लाइ ।"
सखा सुनि स्याम के ॥

इसी से सिद्ध होता है कि सगुण भक्त विशेषतः रूप की ओर क्यों अधिक आकर्षित होते थे। यहाँ तक तो सूर तुलसी से इनका साम्य है। परन्तु आगे चल गोपियाँ तर्क का आश्रय लेती हैं। सूर की गोपियों ने भी कुछ स्थानों पर तर्क का आश्रय लिया और जैसा कि हम लिख चुके हैं, उनकी बातें भी निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित थीं। परंतु यह सब होते हुए भी सूर का लक्ष्य हृदय ही था जब कि नंद का लक्ष्य बुद्धि जान पड़ता है। उद्धव जब कहते हैं कि—

"हाथ न पाउँ, न नासिका, नैन, बैन, नहिं कान ।"

तो गोपियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण का आश्रय लेकर पूछती हैं—

"जो मुख नाहिंने हुतो, कहौ किन माखन खायौ ?
पाइन बिन गो संग, कहौ को बन बन धायौ ?
आँखिन में अंजन दियौ, गोवर्द्धन लियौ हाथ ।
नंद जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रजनाथ ॥
सखा सुनि स्याम के ॥"

उद्धव जब कर्म की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं—

"धूरि देह में आइ, कर्म करि हरि पद पावें ।
धूरहि तें यह तन भयो, धूरिहि सें ब्रह्मंड ॥

लोक चतुर्दस धूरि तैं, सप्त दीप, नव खंड ।
सुनौ ब्रजवासिनी ॥

तो गोपियाँ इसका खंडन विशेष सिद्धांत के द्वारा करती हुई कहती हैं—

"कर्म धर्म की बात, कर्म अधिकारी जानैं ।
कर्म-धूरि कौं आनि, प्रेम अमृत में सानैं ॥
तब ही लौं सब कर्म हैं, जब लौं हरि उर नाहिं ।
कर्म बंध सब बिश्व के, जीव बिमुख ह्वै जाहिं ॥
सखा सुनि स्याम के ॥"

इससे ज्ञात होता है कि गोपियाँ अब सामान्य नारी नहीं रह गई थीं। वे पूर्ण भक्त हो चुकी थीं और कर्म का मूल्य अब उनके लिये कुछ भी न था। अद्वैतवादी उद्धव केवल ब्रह्म को सत्य मान कर पूछते हैं—

"जौ उनके गुन होंहि, वेद क्यों नेति बतावैं ।
निर्गुन सगुन आत्मा, रचि उपनिषद जु गावैं ॥
वेद-पुरानन खोजि कै, नहिं पायौ गुन एक ।
गुन हू के गुन होंहि जौ, कहौ अकास किहि टेक ॥
सुनौ ब्रजवासिनी ॥"

गोपियाँ इसका खंडन करती हुई पूछती हैं—

"जौ गुन के गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ ते ।
बीज बिना तरु जमै, मोहिं तुम कहौ कहाँ तैं ॥
वा गुन की परछाँह री माया-दर्पन बीच ।
गुन तैं गुन न्यारे भये, अमल वारि मिल कीच ॥
सखा सुनि स्याम के ॥"

कथोपकथन और तार्किक प्रणाली के देखने से नंद की गोपियों की विशेषता ज्ञात होती है। क्रम का जितना सुन्दर विकास यहाँ मिलता है अन्यत्र नहीं। गोपियों के विचारानुसार उद्धव नास्तिक ठहरते हैं। वादाविवाद के सिलसिले में श्री कृष्ण का फिर से उन्हें ध्यान हो

आता है, पुरानी बातें याद आ जाती हैं और दैन्य भाव से गोपियाँ कृष्ण को पुकारने लगती हैं। वे उद्धव रूपी विपत्ति से बचाने के लिये प्रार्थना करती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इतने दिनों से जो अश्रु वे संचित किये हुए थीं समय पाकर वह निकले हैं। उस समय उद्धव और उनका ज्ञानोपदेश नहीं वरन् कृष्ण का साकार स्वरूप उनके सन्मुख था। वे एक स्वर से बोल उठीं—

"अहो नाथ, अहो रमा नाथ, जदुनाथ गुसाईं।
नंद-नंदन बिड़राति फिरति, तुम बिन बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु।
दुख जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलंबन देहु॥
निठुर ह्वै कहि रहे॥"

इससे नारि जाति की दुर्बलता एवं सरलता सिद्ध होती है। वे स्त्रियाँ जो उद्धव के सम्मुख दृढ़ता से खड़ी जान पड़ती थीं वे वास्तव में इतनी दुर्बल थीं।

गोपियाँ कृष्ण को उलहना देने से भी नहीं चूकीं। वे पुराने दिनों की ओर संकेत करते हुई कहती हैं—

"कोउ कहै अहो स्याम, कहा इतराइ गये हौ।
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भयो हौ।"

दूसरी ओर उद्धव से मीठी चुटकी भी लेती हैं—

कोउ कहै अहो मधुप, स्याम जोगी तुम चेला।
कुब्जा-तीरथ जाऊ, करौ इंद्रिन कौ मेला॥

कहीं अविश्वास का भावना कृष्ण के प्रति दिखलाई देती है—

"कोउ कहै ये निठुर, इन्हैं पातक नहिं व्यापै।
पाप-पुन्य के करन हार, ये ही हैं आपै॥
इनके निर्दय रूप में, नाहिन कोऊ चित्र।
पय पियावत प्रानन हरे, पूतना बाल चरित्र॥
मित्र ये कौन के॥"

इसकी पुष्टि इतिहास से भी होती है—

"कोउ कहै री आज नाहिं, आगे चलि आई।
रामचंद्र के रूप, धर्म में ही निठुराई॥
जग्य करावन जात हे, बिस्वामित्र समीप।
मग मैं मारी ताड़का, रघुवंसी-कुल दीप॥
बाल ही रीति यह॥"

यहीं भावना भागवत की गोपियों में भी मिलती है। यह सब समझते हुए भी वे उन्हें नहीं भूल सकतीं क्योंकि—

"हमकौं पिय तुम एक हौ, तुम कौ हम सी कोरि।
बहुत पाइ कै रावरे, प्रीति न डारौ तोरि॥
एकही बार जी॥"

यहाँ हम उनमें गर्व का अभाव पाते हैं और ईर्ष्या की भावना इनमें विशेष नहीं है।

भ्रमर का प्रवेश भी सुन्दर ढंग से होता है। कदाचित इतनी स्पष्ट योजना और कहीं भी नहीं मिलती—

"ताही छिन इक भँवर, कहूँ तैं उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज बनितन के पुंज माहि, गुंजन छवि छायौ॥
बैठ्यौ चाहत पाँउ पै, अरुन कमल दल जानि।
मन मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहि प्रगट्यौ आनि॥
मधुप को भेष धरि॥"

और इसके बाद ही भ्रमर के बहाने वे कृष्ण को उपालंभ देने लगती हैं—

"जिनि परसौ मम पाँउ रे, तु आनँद-रस-चोर।
तुमहीं सौ कपटी हुतौ, मोहन नंद किशोर॥
इहाँ तैं दुरि हौ॥"

यहाँ हम भागवत से भिन्न उक्ति पाते हैं। भागवत की गोपियों की भाँति वे भ्रमर को चरण छूने से इसलिये नहीं वर्जित करती कि उसके श्मश्रुओं में, सौत के कुच-मंडल में विहार करने वाली माला में लिप्त

कुँकुँम लगा हुआ है। वरन वे दोनों में एक धर्म पाती हैं क्योंकि दोनों कपटी हैं। उनका मतलब केवल कृष्ण से है न कि सौतों से। इसके बाद वे उद्धव की ओर मुड़ती हैं—

"कोउ कहै री विस्व माँझ जेते हैं कारे।
कपटी कुटिल कठोर, परम मानस मलिहारे॥
एक स्याम तन परसि कै, जरत आज लौं अँग।
ता पाछे फिरि मधुप यह लायो जोग भुजंग॥
कहा इनको दया॥"

काले की निंदा तो की ही गई है पर विशेष जोर 'जोग भुजंग' पर ही दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि कृष्ण की अपेक्षा वे उद्धव से ही विशेष चिढ़ी हुई थीं।

कहावत है 'बीती बात बिसारि दे आगे की सुधि लेए' इसे सामने रखती हुई गोपियाँ कहती हैं—

"वा पुर गोरस चोरि कै, फिरि आयौ या देस।
इन कौं जनि मानौ कोऊ, कपटी इनकौ भेस॥
चोरि जिनि जाइ कछु॥"

इसी सिलसिले में वे अंत में उद्धव के अज्ञान को भी स्पष्ट कर देती हैं जिसका आधार पूर्व समय से चला आता हुआ धार्मिक-सिद्धांत है—

"कोउ कहै अहो मधुप, निगुन-निरनै बहु जानौ।
तर्क-वितर्क न जुक्ति, सास्त्र हू तैं बहु आनौ॥
पै इतनो नहिं जानहि, वस्तु बिना गुन नाहिं।
निर्गुन सक्ति जु स्याम की, लिये सगुन ता माहिं॥
जोति जल बिंब में॥"

परंतु वे अधिक समय तक अपनी नारी सुलभ भावना को नहीं रोक सकीं, और—

"ता पाछे इक बार ही, रोई सकल ब्रजनारि।

हा करुना मय नाथ हो ! केशव, कृष्ण, मुरारि ॥
फाटि हियौ चल्यौ ॥"

यहीं पूर्ण रूप से हम उनका आत्म-समर्पण पाते हैं जो नारियों का भूषण है।

गोपियों का प्रेम और उनकी दशा देख उद्धव दंग रह गये। उनका ज्ञान का गर्व टूट गया और—

"ऐसैं मन अभिलाष करत, मथुरा फिरि आयौ।
गद्गद पुलकित रोम, अंग आवेस जनायौ॥
गोपी गुन गावन लग्यो, मोहन गुन गयौ भूलि।
जीवन कौं लै का करै, पायौ जीवन मूलि॥
भक्ति को सार यह॥"

कृष्ण ने उन्हें विश्वास दिलाया—

"ज्यौं देखी मो माँझ वे, त्यौं मैं उन्हीं माहिं।
तरंगनि वारि ज्यौं॥"

सूर की तरह नंद ने भ्रमर गीत का विस्तार से वर्णन नहीं किया, परंतु इसमें संदेह नहीं कि थोड़े में तर्क एवं प्रेम-भाव का अच्छा चित्र वे खींच सके हैं। नंद का भ्रमरगीत विशेष व्यापक और विस्तृत तो नहीं है परंतु गंभीर अवश्य है। गोपियाँ हमारी बुद्धि एवं हमारे हृदय दोनों को एक-एक कर के स्पर्श करती हैं। उनकी बातें कोरी ज्ञान की नहीं वरन रसमय भी हैं। उनके विलाप को सुनकर हमारा हृदय क्रंदन करने लगता है। भागवत की गोपियों की भाँति वे मूर्ख नहीं कि उद्धव उलटी सीधी बात समझा दें, सूर की गोपियों की भाँति चंचल नहीं कि उद्धव को आड़े हाथ लें। तुलसी की गोपियों की नाईं वे अंधविश्वासी एवं सरल भी नहीं कि बातें करें इसलिये कि उद्धव आये हैं संदेश लेकर। नंद की गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं और यह समझते हुए कि वे कौन हैं ?

रीति-काल के कवियों ने भी इस प्रसंग पर कवित्त लिखे हैं।

धार्मिक-युग समाप्त हो चुका था। ईश्वर निर्गुण है या सगुण इस पर विचार करना अब कवि आवश्यक नहीं समझते थे। साथ ही अपने राजा को प्रसन्न करने के लिये ही विशेष कर ग्रंथ लिखे जाते थे जिसका विषय अलंकार-शास्त्र या नायिका-भेद इत्यादि हुआ करता था। इसलिये यहाँ हम गोपियों को सगुण ब्रह्म की स्थापना करते हुए नहीं देखते न स्वतंत्र रूप से इस काल में भ्रमरगीत की रचना ही हुई है। यत्र-तत्र इस प्रसंग पर कवित्त लिखे गये जो किसी अलंकार के या हाव-भाव इत्यादि के उदाहरण स्वरूप हो आते हैं। इसमें भक्ति का अंश कम है उक्ति-वैचित्र्य अधिक, इनमें कोई क्रम भी नहीं दिखलाई देता। मधुकर शब्द से ही हम भ्रमर की उपस्थिति या उद्धव की उपस्थिति जान पाते हैं, और कहीं कहीं उसका भी अभाव है।

इस परंपरा में हमको तीन प्रकार के कवि मिलते हैं। इनमें से एक तो अलंकारों की ओर विशेष ध्यान न दे हृदय को ही अपना लक्ष्य मानकर लिखते हैं। दूसरे अलंकारों को दृष्टिकोण में रखते हैं, परंतु हृदय को नहीं भूल पाते और गोपियों के मनोभावों को भी सुन्दरता रूप से उपस्थित करते हैं। परंतु तृतीय श्रेणी में वे कवि हैं जिन्होंने अलंकारों के उदाहरण में कथा प्रसंग के उपलक्ष्य मात्र में संकेत किया है।

पहली श्रेणी के अन्तर्गत रहीम आते हैं। जितनी व्यथा रहीम की गोपियों में है कदाचित् किसी में नहीं मिलती। सूर की गोपियाँ तुलना में रक्खी जा सकती हैं पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि वे सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं। वे बुद्धिमती थीं, और इस अवस्था में भी वे अपने को नहीं भूल सकी थीं। पर रहीम की गोपियाँ तो बिलकुल मुग्धा नारी ही हैं। वे यह समझती थीं कि उद्धव ठीक नहीं कहते पर उन्हें इसका भी ज्ञान नहीं था कि कौन सी ऐसी बात है जो वे ठीक नहीं कह रहे हैं। बस वे इतना ही कह पाईं—

"ऊधौ भलौ न कहनौ, कछु पर पूठि।
साँचे ते भे झूठे, साँची झूठि॥"

निर्गुण-ब्रह्म को वे नहीं मानतीं, पर क्यों नहीं मानतीं यह भी उन्हें ज्ञात नहीं। वे इतना भर ही समझ सकीं थीं कि उद्धव कोई ऐसी बात कह रहे हैं जिससे कृष्ण उनके नहीं होते। भोली-भाली गोपियाँ इतना ही कह सकीं—

"कहा छलत हो ऊधौ, दै परतीति।
सपनेहु नहिं बिसरै, मोहनि मीति॥"

और वे तो उद्धव के द्वारा संदेश भी भेजाती हैं, परंतु वे क्या कहलावें, और उद्धव को कैसे समझावें कि कृष्ण का उनसे क्या संबंध है। इतना ही कहना यथेष्ट है—

"ब्रज बासिन के मोहन, जीवन प्रान।
ऊधौ यह सँदिसवा, अकह कहान॥"

औरों की भाँति ये न कृष्ण को दोष देती हैं न अपने भाग्य को। इस व्यवहार को वे संसार का नियम समझती हैं—

"कहा कान्ह से कहनौ, सब जग साखि।
कौन होत काहू के, कुबरी राखि॥"

अब वे पछताती हैं कि व्यर्थ में ही प्रीत की थी, पर अब तो जो होना था हो गया—

"घेर रह्यौ दिन रतियाँ, बिरह बलाय।
मोहन की वह बतियाँ ऊधौ हाय॥"

इसे हम रहीम की मौलिकता एवं सहृदयता कह सकते हैं। जितनी व्यथा यहाँ है कहीं नहीं। इन छोटे छोटे वाक्यों में इतनी शक्ति कवि ने भर दी है जिससे हम उस पीड़ा का अनुभव स्वयं करने लगते हैं। वे निराश हो चुकी हैं? साहस खो चुकी हैं? अब उनके पास शब्द भी नहीं कि अपनी व्यथा कह सकें। यह अर्द्धमौन निवेदन विरहिणी नारियों के जीवन का महत्वपूर्ण क्षण है।

दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत मतिराम आते हैं। इनके भ्रमरगीत संबंधी कवित्त अलंकारों के उदाहरण स्वरूप लिखे गये हैं, परंतु अगर उसे हम भुला भी दें तो सौन्दर्य नष्ट नहीं होने पाता। "असंभव अलंकार" में गोपियों का कृष्ण पर पूर्ण विश्वास और साथ ही उद्धव के आने पर, कृष्ण का उनके प्रति किया गया विश्वासघात, दोनों का समन्वय इस प्रकार हुआ है—

"यों दुख दै ब्रज बासिन कों ब्रज कों तजि कै मथुरा सुख पैहैं।
धै रसकेलि बिपासिनि कों, बन-कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं॥
जोग सिखावन कों हम पै पठुरयौं सुन-से ठठि धावन ऐहैं।
ऊधो नहीं हम जानत ही मन मोहन कूबरी हाथ बिकैहैं॥"

एक तो यह दुःख, उस पर आये उद्धव ज्ञानोपदेश देने,/इसे वे सहन न कर सकीं। इच्छा तो उनकी थी कि जली खोटी सुनावें, पर कृष्ण के सखा हैं इस विचार ने उन्हें उनका अनादर करने से रोका। यह सोच कर कि उद्धव निराश न हो जावें उन्होंने कहा तुम्हारी बात मानेंगे पर वह हमारे योग्य हो तभी। इसे बड़े सुन्दर ढंग से "प्रथम विषम" के उदाहरण-स्वरूप कवि ने उल्लिखित किया है। गोपियाँ कहती हैं—

"ऊधो जू सूधो बिचार है धौं जू कछू समुझै हम हूँ ब्रज बासी।
मानि हैं जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी॥
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी।
स्याम कहाँ अभिराम सरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी॥"

वे संकेत कर ही देती हैं कि वे इतनी मूर्खा नहीं जितना उद्धव समझते हैं और रहे उद्धव। तो बुद्धि की तो कमी उनमें है ही, नहीं तो उनसे ऐसी बातें क्यों करते। उद्धव के अज्ञान का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह था कि वे समझते थे कि कृष्ण से गोपियों का वियोग है, तभी तो वे कहते हैं वियोग छोड़ योग करो। वस्तुतः कृष्ण से उनका वियोग तो है ही नहीं। भाविक अलंकार का निर्वाह करते हुये कवि ने

उपयुक्त उत्तर दें। वे कामातुर हो रही थीं, साथ ही विरह उन्हें दुखित कर रहा था—

"रैन दिन नैन दोऊ मास ऋतु पावस के,
बरसत बड़े बड़े बूंदनि सों झरिये।
मैन सर जोर मारे पवन झकोरनि सों,
आई है उमगि छिनि छाती नीर भरिये॥
टूटो नेह नांव छूटो स्याम सों सुहानु गुन।
ताते कवि 'देव' कहै कैसे धीर धरिये।
विरह नदी अपार बूड़त ही मँझधार।
ऊधौ अब एक बार खेहू पार करिये॥"

जब वे कुछ शांत होती हैं तब उन्हें आश्चर्य होता है कि उद्धव बेकार की बातें क्यों कर रहे हैं? कहाँ का वियोग और फिर कैसा योग उन्हें तो संतोष है कि कृष्ण उनके पास हैं—

"रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों श्रुति सानो।
गात में देखत जात तुम्हारे, ये बात तुम्हारिये बात बखानों॥
ऊधौ इहा हरि सों कहियो, तुम हो न यहाँ यह हौं नहि मानों।
या तन ते बिछुरे तु कहाँ, मन ते अनते जु बसौ तब जानों॥"

बातें आगे बढ़ती हैं—वे कहती हैं कि अभी तक तुमने जिस निर्गुण ब्रह्म और उनके अंशावतारों का गुणानुवाद कहा वह उन्हें ग्राह्य नहीं, न उन्हें उनके निर्गुण रूप की आवश्यकता है और न सगुण की। उनका तो मार्ग ही भिन्न है। वे तो प्रेमी हैं और अपने प्रियतम को चाहे जैसे होगा प्रसन्न कर अपनायेंगी—

"कुबिजा किते न दुबिजा के रहे आपु 'देव'
अंस अवतारी अब तारी जिन गनिका।
आरति न राखत निवारत नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका॥
उनके गुनानुवाद तुमसों सुने हैं ऊधो,

भावना वही है—

"जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा ।
सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ।"

पर अब करना क्या था जो कुछ कहना सुनना था कह चुकीं थीं फिर भी उद्धव को वहाँ बना देख विनोद के लिये उनसे व्यंगात्मक बातें कहती हैं—

"को हमकों तुमसे तपसी बिनु, जोग सिखावन आइ हैं ऊधौ ।
पै यह पूछिये, जू उनको सुधि, पाछिली आवति है कबहूँ धौ ॥
एक भली भई भूप भये अरु, भूलि गये दधि माखन दूधौ ।
कूबरी सी अति सूधी बधू को, मिल्यो बर देव जू स्याम सों सूधौ ॥"

घनानंद की गोपिकायें तो स्पष्ट रूप से बिना बात बढ़ाये ही सगुण की महिमा उद्धव को बतलाती हैं और कहती हैं कि मनुष्यों को कौन कहे लतावृन्द भी उनके सन्मुख नत मस्तक हैं—

"ऊधौ विधि-ईरित भई है भाग कीरति ।
लही रति जसोदा-सुत-पावन-परस की ।
गुलम लता ह्वै सीस धरयौ चहैं धूरि जाकी,
कहिये कहा निकाई महिमा सरस की ।
आँखिन लगी है प्रीति पूरन पगी है अति,
आरति जगी है ब्रज भूमि के दरस की ॥"

और रहे उद्धव सो—

"नाद को सवाद जाने बापुरो बधिक कहा,
रूप के विधान को बखान कहा सूर सों ।
सरस परस के विलास जड़ जानें कहा,
नीरस निगोड़ो दिन भरे अलि ऊरसों ॥
चाह की चटक सें भयो न हियें चोप जाके,
प्रेम परी कथा कहै कहा मकभूर सों ।
चाहै प्रान-चातक सुजान घनआनँद कों,
दैया कहुँ काहू कों परे न काम कूर सों ॥"

जैन कवि आनंदघन की गोपिकायें तो निराश हो चुकी था और कहना सुनना निरर्थक समझ प्रियतम को मनाने के लिये अपने जीवन तक को छोड़ देने की इच्छा करती थीं। भ्रमर को उपालंभ देते हुए कहती हैं—

"किन गुन भयो रे उदासी भमरा।
पँख तेरो कारो, मुख तेरो पीरो, सब फूलन को वासी॥
सब कलियन को रस तुम लीना, सो क्यूं जाय निरासी।
आनँदघन प्रभु तुमरे मिलन क्यूँ, जाय करवत क्यूँ कासी॥"

पद्माकर ने भी भ्रमरगीत पर कुछ कवित्त लिखे हैं। इसमें मधुकर शब्द का भी प्रयोग नहीं मिलता। गोपियाँ विरह के दुःख से पीड़ित हैं और यह पीड़ा और भी बढ़ जाती है जब कि प्रकृति का उद्दीपन रूप देखती हैं। वे ही फूल जो पहले आनंददायक थे अब दुःख को बढ़ाने का कारण हो जाते हैं। वे उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण के पास उनका संदेश पहुँचा दें, कदाचित उन्हें दया आवे। इस कवित्त की विशेषता यह है कि कवि का दृष्टिकोण षट्ऋतु के अंतर्गत वसंत का वर्णन करने का है। एक ओर तो यह उदाहरण स्वरूप आता है, दूसरी ओर गोपियों का विरह स्पष्ट होता है—

"पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहैं 'पद्माकर' बिसासी या वसंत के,
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं॥
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो।
हरि सों, हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥"

इससे भी जब उन्हें शान्ति नहीं मिलती तो कृष्ण को भला बुरा कहना प्रारंभ करती हैं। उन्हें दुख है कि वे प्रेम भी करने गये तो एक

दासी से। क्रोध में भर कर वे कह उठती हैं कि उनकी कौन कहे, दुनिया में वे किसी के नहीं हैं। आपकी ओर से संदेश वे दे ही चुकीं थीं। डर था कि कहीं उपेक्षा की दृष्टि से वे उसे न देखें, इसलिये राधा की ओर से भी कहला देना उन्होंने उचित समझा। राधिका के चरित्र को बड़े सुन्दर ढंग से कवि ने निवाहा है। बहुत कुछ साम्य सूर की राधिका से मिलता है। सूर की राधिका की ही भाँति वे चुप रहती हैं। दुःख इस हद तक पहुँच चुका है कि क्रोध एवं ईर्ष्या के लिये स्थान ही नहीं रह जाता, गोपियाँ कहती हैं—

"आवत उदासी, दुख लागै, और हाँसी सुनि,
दासी उर लाइ कहो को नहि दहा कियो।
कहै 'पदमाकर' हमारे जान ऊधो उन,
तात को न मात को न भ्रात को कहा कियो॥
कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकिनि चेरी ताके चित्त को कहा कियो।
राधिका की कहवत कहि दीजौ मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियौ॥"

'असूया' के साथ भाव का स्वाभाविक निर्वाह प्रशंसनीय है। मतिराम की गोपियों की भाँति ये भी आश्चर्य करती हैं कि जब हमारा उनसे विरह नहीं है तो उद्धव विरह छोड़ कर 'जोग' करने की शिक्षा क्यों देते हैं। इसे हम उनका 'प्रलाप' नहीं कह सकते वरन् यह भाव तन्मयता का है—

"प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नंद के दुलारे ब्रज वारे उमहत हैं।
कहै 'पदमाकर' उरुते उर अंतर यों,
अंतर चहे हूँ ते न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं रोम,
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।

ऊधो ये गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोविन्द मोहि मोहि में रहत हैं ॥"

व्यंग का जिसके साथ चिढ़ भी है सुन्दर उदाहरण तब मिलता है जब वे कहती हैं कि—

"जैसे को तैसो मिलै, तब ही जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभंग तन स्याम को, कुटिल कूबरी देह ॥"

वे कवि जो कविता अलंकार के चमत्कार को दिखलाने के ही लिये लिखते थे, उन्हें इसकी चिन्ता नहीं थी कि गोपियों के हृदयगत भावों को वे स्पष्ट कर सके हैं या नहीं ? उनकी कविता बुद्धि से ही टकरा कर रह जाती है, हृदय तक नहीं पहुँच पाती। सेनापति भी इसी श्रेणी में आते हैं, श्लेष के द्वारा एक कवित्त में उन्होंने एक ओर तो सागर का वर्णन किया है और दूसरी ओर गोपियों की व्यथा का वर्णन है। विरह के कारण वे दुःखी हैं, समय बिताये नहीं बीतता। लताएँ अच्छी नहीं लगतीं, शनैः शनैः वे जड़ता को प्राप्त हो जाती हैं। चिन्ता इसकी है कि दीनों के नाथ कृष्ण नहीं हैं। गोपियों की विरह दशा से गोप भी दुःखी एवं चिंतित हैं। गोपियों के सन्मुख अंधकार है, जिसका कारण उद्धव का ज्ञानोपदेश है, इसको कवि ने श्लेष के द्वारा प्रकट किया है—

"जात है न खेयौ क्यौं हूँ बल्ली न लगति नीकी,
सोचत अधिक मन मूढ़ सब लोग कौं।
न दीन कौ नाथ यातैं पैरत न बने काहू,
सेनापति राम बीर करता असोग कौं ॥
दीरघ उसास लेत अहि रहै भारी जहाँ,
तिमिर है विकट बतायौ पंथ जोग कौं।
कान्ह के अछत कुँज काम केलि आगर ही,
तेई बिन कान्ह भई सागर वियोग कौं ॥"

उद्धव के यह समझाने पर कि कृष्ण ब्रह्म हैं, वे सब पर समान प्रीति

करते हैं इसलिये तुममें तथा कृष्ण में कोई भेद नहीं है। गोपियाँ उनके वचनों को दूसरे ही अर्थ में लेती हैं और यह दिखाती हैं कि कुब्जा और उनकी स्थिति में बहुत भेद है। एक ओर गोपियों तथा कुब्जा का एक सा चित्रण किया गया है, दूसरी ओर भेद बतलाया गया है—

"कुबिजा उर लगाई हमहूँ उर लगाई,
　　　　पी रहे दुहू के तन मन वारि दीने हैं।
वे तौ एक रति जोग हम एक रति जोग,
　　　　सूल करि उनके हमारे सूल कीने हैं॥
कूबरी यों कल पै है हम इहाँ कलपैहैं,
　　　　सेनापति स्यामें समुझैयौं परबीने हैं।
हम वे समान ऊधौ कहौ कौन कारन तैं,
　　　　उन सुख माने हम दुख मानि लीने हैं॥"

इसी प्रकार की रचनायें दास की भी मिलती हैं, जिसमें रस का अभाव है। कविता केवल बुद्धि का ही विषय बन कर रह जाती है। गोपियाँ एक बात कहती हैं वह संपूर्ण भी नहीं होने पाता कि दूसरी बात प्रारंभ हो जाती है, जिससे आनंद जाता रहता है एवं अस्वाभाविक जान पड़ती है—गोपाल का मुख देखने की उत्कंठा, मंत्र लेने की चिन्ता और कूबर का भक्ति भाव यह सब एक ही कवित्त में ठूँस दिया गया है—

"ऊधो तहाँ हूँ चलौ लै हमें जहँ कूबरी कान्ह बसैं इक ठौरी।
देखिए दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सौं कछु पाइये मन्त्र लगाइये कान्ह सौं प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढ़ाइये बृंद चढ़ाइये चंदन वंदन रोरी॥"

इसी प्रकार असंभवालङ्कार के उदाहरण स्वरूप कवि लिखता है कि—

"श्रुति सें ह्वै है कूबरी, पवि ह्वै हैं ये अङ्ग।
ऊधौ हम जान्यो न यह, गुन ह्वै हरि सङ्ग॥"

अलंकारों के विशेष चक्कर में पड़ कर इस श्रेणी के कवियों ने भ्रमर-गीत शैली की कविता के सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। रीतिकाल के अन्य

कवियों ने भी रचना इसी दृष्टिकोण से की थी परंतु हृदय को नहीं भूले थे। विस्तृत रूप से न लिखने के कारण इन कवियों में क्रम का पता नहीं चलता, जो क्रम हम श्रीमद्भागवत एवं भक्ति काल के कवियों में देख चुके हैं। परंतु संकेत तो यत्र-तत्र उन घटनाओं का भी मिलता ही है।

युग एवं साहित्य का पारस्परिक संबंध चिरंतन सत्य है। कविता युग की पुकार रही है जिसमें हम उस युग की विचारधारा को निहित पाते हैं। आधुनिक काव्य के प्रथम आचार्य भारतेन्दु हुए। इस युग में कवियों का संबंध विशेष व्यक्ति से न रह कर जनता से रहा है। कविता का विषय नायक नायिकाओं का शरीर शृंगार, नख शिख एवं नायिका भेद न रह कर कुछ और ही रहा। हम देखते हैं कि इस युग में जीवन और साहित्य का संबंध बढ़ा है। कवियों ने अपने को रूढ़ियों से बचाया और उनकी लेखनी ने नए मार्ग बनाए हैं। इस युग की कविता राजाओं के मनोविनोद के लिए नहीं लिखी गई वरन् उनका उत्तरदायित्व जनता के प्रति रहा है। यह सब होते हुए भी भक्ति एवं रीतिकालीन प्रवृत्ति आगे के कवियों में दृष्टिगोचर होती है। भेद केवल इतना था कि अब के कवि रीति कालीन कवियों की भाँति राधा कृष्ण की ओट में अपनी कुरुचि पूर्ण भावनाओं को नहीं स्पष्ट करते थे और न रीतिकालीन कवियों की तरह अलंकार ग्रंथ ही लिखते थे, वे भक्ति पूर्ण कवितायें करते अवश्य थे पर इसलिये कि उनके हृदय में अपने आराध्य के प्रति भक्ति भावना थी। वे नखशिख वर्णन इत्यादि भी करते थे। परन्तु अपने अलंकार ज्ञान एवं रचना कौशल को स्पष्ट करने के लिये नहीं वरन् उसमें उनका हृदय ही प्रधान रहता था। काव्य दृष्टि सीमित नहीं थी अब उसमें व्यापकता आ चुकी थी।

भारतेन्दु मानव प्रकृति के कवि थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे दूसरी ओर बंग देश के माइ-केल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा कृष्ण की भक्ति

में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टाकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते हैं। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है।"

भ्रमरगीत संबंधी पद स्फुट काव्य के रूप में ही उन्होंने लिखे इसलिये उसमें हम क्रमिक कथा का विकास नहीं पाते। उद्धव को भेजने का क्या करण था इसको स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है। हाँ, संकेत अवश्य मिलता है। उद्धव संदेश लेकर गोपियों से मिलने जाते हैं वे उनका स्वागत करती हैं। उन्हें क्षोभ होता है यह जानकर कि योग का संदेश मात्र ही उनके लिये आया है। उन्हें आश्चर्य होता है कि वे क्या सुन रही हैं? अरे! इसकी तो उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। सपत्निक भाव के साथ निराशा की भावना उनके हृदय में व्याप्त हो जाती है वे कहती हैं कि—

"मथुरा के देसवाँ से भेज लैं पियरवाँ रामा।
हरि हरि ऊधो लाए जोगवा की पाती रे हरी॥
सब मिलि आओ सखी सुनो नई बतियाँ रामा।
हरि हरि मोहन भये कुबरी के संघाती रे हरी॥
छोड़ि घर बार अब भसम रमाओ रामा।
हरि हरि अब नहिं ऐहैं सुख की राती रे हरी॥
अपने पियरवाँ अब भए हैं पराए रामा।
हरि हरि सुनत जुड़ाओ सब छाती रे हरी॥"

परन्तु वे दोषी अपने को ही समझती हैं और अपने को कोसती हुई कहती हैं—

"हरिचंद, न काहू को दोष कछू मिलि हैं सोइ भाग में जो उतर्‌यो।
सब को जहाँ भोग सिरयो वहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यो॥"

नारी स्वभाव का यथार्थ चित्रण हमें यहाँ मिलता है। यह देखा गया

है कि स्त्रियाँ जब भी दुखी होती हैं और उनका हृदय भर आता है, तो अपने प्रियतम के दोष को अपने सिर ओढ़ लेतीं हैं। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

विचित्र परिस्थिति थी—हृदय योग के स्वागत को तैयार न था दूसरी ओर प्रियतम की आज्ञा मान्य थी। उन्हें अधिकार भी तो नहीं था कि वे विद्रोह करतीं? उनके हृदय में भीषण द्वन्द्व चल रहा था, वे सोच रही थीं—

"हरि सँग भोग कियो जा तन सों तासों कैसे जोग करैं।
जा सरीर हरि सँग लपटानी वापैं कैसे भस्म धरैं॥"

साथ ही निर्गुण का ध्यान कहाँ वे करेंगी हृदय में स्थान भी तो नहीं शेष रहा है और अगर बलपूर्वक वे कुछ करें तो यह अत्याचार होगा। केवल कृष्ण की मूर्ति ही उनके हृदय में नहीं है वरन् कृष्ण ने भी तो अपने हृदय को उनसे मिलाया है। अब तो उनका हृदय कृष्ण का हो चुका उन्हें अधिकार नहीं कि वे उसे किसी को भी दें। वे एक निष्कर्ष पर पहुँच चुकीं थीं, अब कुछ शेष नहीं रहा था। फलस्वरूप उन्होंने चुटकी लेना ही श्रेयकर समझा। उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की—

"ऊधौ जो अनेक मन होते।
तो इक श्याम-सुंदर को देते इकलै जोग सँजोते॥
एक सों सब गृह कारज करते एक सों धरते ध्यान।
एक सो श्याम रंग रंगते तजि लोक लाज कुल कान॥"

यह सुनकर कि 'लोकलाज' को भी वे परित्याग कर चुकीं उद्धव टस से मस नहीं हुए तो उन्हें कहना पड़ा—

"ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो हरि लै गए चुराई।
'हरीचंद' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई॥"

वे यह भी सोच रही थीं कि यह ठीक नहीं, कृष्ण सुनेंगे कि उनके संदेश को गोपियों ने निरादर की दृष्टि से देखा तो उन्हें दुःख

होगा। इसलिये उचित यही है कि उन्हें समझाकर इसका उत्तर कहला दिया जाय जिससे वे दुखी न हों। उत्तर भेजने का ढंग भी निराला है। पहले तो वे कृष्ण की बातों को मान लेती हैं ताकि सुनते ही वे रुष्ट न हो जायें। फिर मुँह बनाकर अपनी असमर्थता स्पष्ट करती हैं। मान करके मना लेने का सुन्दर रूप हमें यहाँ मिलता है—

"व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन हैं हम हूँ पहिचानति हैं।
पै बिना नँदलाल बिहाल सदा 'हरिचंद' न ज्ञानहि ठानति हैं॥
तुम ऊधौ-यहै कहियो उन सों हम और कछू नहि जानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं॥"

उद्धव प्रियतम के प्रिय सखा थे इसलिये उनके भी पूज्य थे। बिचारे निराश न हो जाय, इस कारण ढाढस बँधाती हुई कहती हैं कि तुम क्यों दुखी हो? हम तो तैयार ही हैं जो भी कहोगे मान लेंगी। पर उससे होगा क्या? और अगर तुम्हारी यही इच्छा है कि हम योगिनी हो जायें तो कृष्ण को वहीं मना लेते। वे केवल इतना ही जानना चाहती थीं कि—

"मन में रहै जो ताहि दीजिये बिसारि मन।
आपै बसै जामें ताहि कैसे कै बिसारिए॥"

इन बातों को सुनकर भी उद्धव वहाँ से नहीं हटे तो खुले शब्दों में उन्हें कहना पड़ा—

"ऊधो जू सूधो गहो वह मारग।
ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है॥"

व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो—

"कोऊ नहीं सिख मानि है ह्याँ इक।
स्याम की प्रीति प्रतीति खरी है॥"

और—

"ये ब्रजबाल सबै इक सों।
'हरिचंद' जू मंडली ही बिगरी है॥"

एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए।
कूप ही में यहाँ भाँग परी है॥"

अपने प्रेम और निश्चय को प्रकट करती हुई गोपियाँ उद्धव से अच्छी चुटकी ली। "कूप ही में यहाँ भाँग परी है" इस कवित्त को अत्यधिक रोचक बना देता है।

अब तक कृष्ण बचे हुए थे कारण यह था कि बातें उद्धव से हो रही थीं। उद्धव से निपट लेने पर गोपियां कृष्ण को जली कटी सुनाने लगीं। कृष्ण को वे मतलबी समझती हुई कहती हैं कि—

"सजन तेरी हो मुख देखे की प्रीत।
तुम अपने जोवन मदमाते कठिन विरह की रीति॥
जहाँ मिलत तहँ हँसि हँसि बोलत गावत रस के गीत।
'हरिचंद' घर घर के भौंरा तुम मतलब के मीत॥"

मतलबी व्यक्ति ही मुह देखी कर सकता है और भ्रमर पद्धति तो उसका साधारण धर्म है। उन्हें दुःख इसका था कि तुम जोबन के मद में माते अपनी इच्छा तो पूर्ण कर लेते हो परंतु उसका प्रभाव औरों पर क्या पड़ता है इसकी तुम्हें चिन्ता नहीं रह जाती जो सर्वथा अनुचित है। इतने पर भी उन्हें शन्ति नहीं मिली, एक स्त्री के विशेष प्रेम ने उनमें ईर्ष्या की भावना भर दी और सौत के होने के दुःख ने उन्हें व्यथित कर दिया। उन्होंने देखा—

"खुटाई पोरहि पोर भरी।
हमहिं छाँडि मधुबन में बैठे बरी कूर कुबरी॥
स्वारथ लोभी-मुँह-देखे की हमसों प्रीति करी।
'हरिचंद' दुराने के ह्वै कै हाहा हम निदरी॥"

वे रो पड़ीं। वे यह सोचने का प्रयत्न करने लगीं कि इस विच्छेद का कारण क्या हो सकता है। बहुत सी संभावनायें उनके मस्तिष्क में उठीं, उसमें प्रधान यह था—

"पुरानी परी लाल पहिचान।
अब हमकों काहे को चीन्हों प्यारे भये सयान ॥
नई प्रीति नए चाहन वारे तुमहूँ नए सुजान।

एक भौंरे को देख और उसका कृष्ण से साम्य देख भ्रमर के बहाने कृष्ण को कहती हैं—

"भौंरा रे रस के लोभी तेरो का परमान।
तू रस मस्त फिरत फूलन पर करि अपने मुख गान ॥
इत सों उत डोलत बौरानों किए मधुर मधु पान।
'हरिचंद' तेरे फन्द न भूलूं बात परी पहिचान ॥"

ढाढस तो उन्होंने अपने को दिया पर, उससे उन्हें संतोष हुआ, शान्ति मिली, चिंत्य है। इतना हम अवश्य देखते हैं कि इस सिलसिले में पूर्व स्मृति जाग उठी और अनायास उनके मुँह से निकला—

"याद परैं वे हरि की बतियाँ।
जो वन कुंजन विहरत मधुरी कही लाइकै छतियाँ ॥
कहँ वे कुंज कहाँ वे खग मृग कहँ वे वन की पतियाँ।
'हरीचंद' जिय सूल होत लखि वही उँजेरी रतियाँ ॥"

और साथ ही आँखों से दो बूँद आँसू निकल पड़े। प्रकृति के उद्दीपन कारी सौन्दर्य ने उनके हृदय में मदन की व्यथा जागृति कर दी और मतवाली गोपियाँ पुकार कर कहने लगीं—

"घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहुँ ओर,
कौन हेत प्राननाथ सुरति विसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनूँ चमक तैसी,
नभ में विशाल बग-पंगति सँवारी है ॥
ऐसी समै 'हरिचन्द' धीर न धरत नेकु,
विरह विथा तें होत व्याकुल विचारी है।
प्रीतम पियारे नन्दलाल बिनु हाय यह,
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है ॥"

प्रकृति का यह रूप जिसे देख मन मयूर नृत्य कर उठता था, कामदेव आदि हो इंद्रियों की विजय कर निर्मोही निष्ठुर के आलिंगन सुख को सुलभ कर देता था उस ऋतु के प्रभाव से व्यर्थ सिद्ध हुआ— हरिचन्द्र ही बदला हुआ था—

"बन बन बाग ही लगाइ कै पलास फूले,
गरजी गुलाब गुलजाल कचनारो हाय ।
आइ गयो सिर पै बसन्त सैन साज लिये,
बिरहिन धीरि बीरि प्रानन मरवारो हाय ॥
'हरीचंद' कोइलैं कुहुकि फिरै बन बन,
बाही लागी लाल देखि बाल को मगारो हाय ।
दूर मान प्यारो आली कीजिये नहारे चाय,
चाहो फेरि सिर पै बसंत पजनारो हाय ॥"

रीतिकालीन कवियों से विशेष कर पद्माकर से भारतेंदु भी प्रभावित जान पड़ते हैं।

निराशा के साथ उलहना का सुन्दर उदाहरण हमको तब मिलता है जब गोपियाँ कहती हैं कि—

"जो पै प्रेमहि करन रही।
तो क्यों हमको प्रीत बढ़ाई जो न अंत निबही।"

और इसके साथ ही पूछती हैं कि—

"कहाँ गई वह बात तुम्हारी कहाँ गयो वह प्यार।"

उनका दिल बैठ चुका था, उद्धव के सामने हार स्वीकार कर लेना ही अब वे उचित समझ रही थीं। अब तक जिस सत्य को छिपाये हुए थीं उसके प्रकट होने का समय आ गया, उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। नारी के जीवन में यह समय भी अपना विशेष महत्व रखता है, जब वे हतोत्साह हो सब कुछ स्वीकार कर लेती हैं—

"यह राजधानी है पिय बतियाँ,
अब नहिं सरस सुनैहैं।

'हरीचंद' तरसत हम मरि हैं,
तऊ न वे सुधि लैहैं ॥"

अब एक उपाय जो उनका अंतिम अस्त्र बच रहा था, उसका प्रयोग करना ही उचित प्रतीत हुआ और वह था दैन्य युक्त संदेस—

"पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम,
रोम रस भीन्यो सुधि भूली गेह गात की।
लोक परलोक छाँड़ि लाज सो बदन मोरि,
उघरि नची हौं तजि संक तात मात की ॥"

यहाँ तक तो आत्म समर्पण हुआ और वह भी नगाड़े की चोट पर, साथ ही इसमें विशेष बल डाल देने के लिये कहती हैं—

" 'हरीचंद' एतेहू पैं दरस दिखावे क्यौं न,
तरसत रैन दिना प्यासे प्रान पातकी।
एरे ब्रजचंद्र तेरे मुख की चकोरी हूँ मैं,
एरे घनस्याम तेरे रूप की हौं चातकी ॥"

उद्धव लौट कर कृष्ण से मिलते हैं वे कितने दुःखी और प्रभावित थे इससे स्पष्ट होता है, जब वे कृष्ण से पूछते हैं—

"आँसुन की नीर जबै बाढ़ैगो समुद्र तबै,
कच्छ रूप धारौगे कै मच्छ रूप धारौगे।"

इस प्रसंग पर प्रेमघन ने भी कुछ फुटकल पद्य लिखे हैं जो भारतेंदु जी की ही शैली पर है, पर उसमें वह आनन्द नहीं जो भारतेंदु में मिलता है। इनके तो गोपियों को विश्वास ही नहीं होता कि कृष्ण का संदेश लेकर उद्धव आये हैं कारण कि उनके स्वभाव से वे भली-भाँति परिचित हैं, वे चकपका जाती हैं और पूछती हैं कि—

"कहौ कहा कहौ उन कैसे।"

यहाँ आगे बढ़ती हैं [illegible] संकेत हमें मिलता है। उद्धव के हठ करने पर गोपियाँ झुँझला कर कहती हैं जिसमें उनका दृढ़ निश्चय [illegible] है—

"यादिहि बढ़ाओ चक यादिहि छूटै ना प्रीति,
चन्द की चकोर और सुमन मलिन्द की।"

साथ ही समझ रखो लज्जा के लिये यहाँ अब स्थान नहीं रहा है, क्योंकि—

"लागी सोहिं चाह की चुड़ैल कुछ ऐसी भगी।
भमरि कै जासौं लाज गुरजन वृन्द की॥"

अब तो हम मतवाली हो चुकी हैं—

" 'प्रेमघन' प्रेम मदिरा की मतवारी होय,
खोये सुधि चेली भई मैं मनोज रिन्द की।
भूल्यो उभय लोक सोक बीर जबहीं सो आनि,
बसी मन मेरे बाँकी मूरति गुविन्द की॥"

वे यह जानना चाहती हैं कि कुब्जा की ओर आकर्षित होने का कारण क्या हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर को जानने के लिये वे राधा और कुब्जा की तुलना कर लेना उचित समझती हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि कृष्ण जैसे बुद्धिमान् ऐसी गलती कैसे कर सकते हैं?

"कहावत तो हूँ स्याम सुजान।
प्रीत करी कुब्जा दासी सँग सब अवगुन की खान॥
तजि राधा रानी सी रमनी के उर अन्तर ध्यान।
कह ब्रजराज कहा वह डाइन यह आचरज महान।
श्री बद्री नारायन जू ये कठिन लगन लग जान॥"

यह सब कहने पर भी जब उद्धव ज्ञानोपदेश ही देते जाते हैं तब वे चिढ़ कर कहती हैं कि—

"ऊधो बात कहो कछु नीकी।
सुन्दर स्याम मदन मन मोहन माधव प्यारे पी की॥"

गोपियों को संदेह पहले ही हो चुका था कि उद्धव कृष्ण के कहे को नहीं दुहरा रहे हैं, इसलिये कहती हैं—

"सानि सानि जनि ज्ञान मिलावहु भाखो उनके जी की।"

[illegible]—

"हम प्रेमिन तजि प्रेम नेम नहिं मानत बतियाँ फीकी।
[illegible] रस प्रेम प्रेमघन और जगै सब फीकी॥"

[illegible] कृष्ण से मिलने का प्रसंग यहाँ नहीं मिलता। भार- [illegible] रीति-काल से बहुत हद तक छोड़ चुके हैं। [illegible] उदाहरण लिखना उनको इष्ट नहीं था। ये फुटकल [illegible] प्रसंग में ही लिखे गये हैं।

[illegible] में राष्ट्र के प्रति प्रेम था। उन्हें दुःख था कि [illegible], पर शब्दों में वे कुछ नहीं कह पाते थे। [illegible] का गान और वर्तमान के प्रति असंतोष की [illegible] पाती है। भारतेन्दु तब भी मंगल [illegible] कि, "पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवो [illegible] परंतु [illegible] में इस युग भाव-धारा [illegible] भ्रमरगीत [illegible] काव्यपरंपरा में [illegible] भ्रमर [illegible] राष्ट्र के प्रति अपने [illegible] का मत है कि स्वदेश [illegible], पर हमारी समझ से इसमें [illegible] राष्ट्रीय भावना [illegible]

[illegible] मौलिकता का [illegible] विनोद [illegible] सुनावें। राधा भी [illegible]

[illegible] जिसमें पीड़ा है [illegible]

[illegible]

है। कवि के अनुसार उनके द्वारका जाने का कारण लोक कल्याण ही था—

"कंस मारि-भू-भार-उतारन, खल दल-तारन।
विस्तारन विज्ञान विमल, स्नुति-सेतु सँवारन॥
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चित चोर।
भव-भय-भंजन मोहना, नागर नंद किशोर॥
गयौ जब द्वारिका॥"

इससे कवि कृष्ण के ब्रह्म-स्वरूप को पाठकों के सन्मुख रखने में सफल होता है। भागवतकार को छोड़कर किसी ने भी इतने गंभीर रूप में इसे नहीं कहा है। भागवत की गोपियाँ कृष्ण को ब्रह्म मानती थीं, परन्तु उनमें हृदय प्रधान था। वे उनके प्रियतम थे। पर यहाँ यह बात नहीं है, यद्यपि कार्य का रूप अलौकिक रक्खा गया है। यह भी कहा जा सकता है कि गोपियों के अभाव में ऐसा कहलाया गया है, पर यह अनुपयुक्त होगा।

प्रसंग का प्रारंभ यशोदा के विरह से होता है। कवि यशोदा के मानसिक चित्र को खींचने में सफल रहा है—

"बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
स्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥
जिय प्रिय हरि दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरतु नैननु नीर॥
बिकल कल ना हिये॥"

यशोदा के विरह के बादल बूँदों का रूप धारण कर लेते हैं; जब वे प्रकृति के उद्दीपनकारी रूपों को देखती हैं और देखती हैं—

"कहूँ बालिका-पुंज कुंज-लखि परिचत पावन।
सुख-सरसावन, सरल सुहावन, हिय सरसावन॥
कोकिल-कंठ-लजावनी, मनभावनी अपार।
भ्रातृ-प्रेम-सरसावनी, रागति मंजु मल्हार॥
हिंडोरन झूलती॥"

पर कृष्ण को वहाँ उनके साथ न देख कर उनके दुःख की सीमा नहीं रह जाती। प्रकृति के उद्दीपक प्रभाव में हमें यहाँ भेद मिलता है। इसमें गोपियों की काम पीड़ा नहीं वरन् मां की आँखों के सामने कृष्ण का वात्सल्य रूप हमें दिखलाई देता है। इसे हम स्वदेश-प्रेम से भिन्न समझते हैं और यहाँ मां का ही हृदय महत्वपूर्ण है। उनसे जब नहीं रहा गया तब—

"सुधि-बुधि तजि माथौ पकरि, करि-करि सोच अपार।
दृग जल मिस मानहुँ निकरि, बही विरह की धार॥
कृष्ण-रटना लगी।"

उन्हें अपनी स्थिति पर दुःख था। गँवारिन मां इस योग्य भी तो नहीं थीं कि अपने लाड़ले तक कुछ लिख कर भी भेज सकती। और कहीं उन्होंने ही कुछ लिख भेजा तो संभवतः वे पढ़ भी तो नहीं सकेंगी। इसी बहाने निरक्षरता के विरुद्ध कवि ने अपने विचार प्रकट किये हैं। पर अच्छा हो इसे हम राजनीति के आचार्यों तक ही सीमित रक्खें। अगर इस दृष्टिकोण से हम इसका अर्थ करेंगे तो काव्य का सौन्दर्य जाता रहेगा। यशोदा अनपढ़ थीं और इसी का उन्हें दुःख था इतना ही समझ रखना पर्याप्त होगा—

"पढ़ी न अच्छर एक, ग्यान सपनें ना पायौ।
दूध-दही चाटत में, सबरो जनम गमायौ॥
माता पिता वैरी भये, सिच्छा दई न मोहि।
सबरे दिन यौं ही गये, कहा कहे तें होहि॥
मनहिं मन में रही॥"

"मनहिं मन में रही" ध्वनित करता है कि उन्हें दुःख इतना ही था कि पुत्र को कुछ लिखने में या उसका लिखा पढ़ने में वे असमर्थ हैं।

उनके हृदय में द्वन्द्व उठता है कहीं इसे सुन लोग यह न कहें कि चली दूध दही छोड़कर अब पढ़ने। अपने विचार के पुष्टि के लिए स्वभावतः उन्हें कहना पड़ा—

"सुनी गरब सौं अनुसूया की पुन्य कहानी ।
सीता सती पुनीता की सुचि कथा पुरानी ॥
दिसय मदन चिंतापगी, मैत्रेयी तिय रत्न ।
शास्त्र-पारगी, गार्गी, मन्दालसा सयत्न ॥
पढ़ीं सब ही सबै ॥"

अक्रूर को दुःख का कारण मानती हुई वे कहती हैं—

"नाम होइ अक्रूर क्रूर तेरो बटमारे ।
बातन में धै गदनि लै गयौ प्रान हमारे ॥"

"बटमारे" शब्द का प्रयोग स्वभाव के अनुकूल और उपयुक्त हुआ है ।

भ्रमर का प्रवेश बड़े सुन्दर ढंग से कवि ने कराया है, इतनी सुंदर उक्ति किसी भी कवि की नहीं हुई है । यशोदा के विरह का संदेश हवा के पंखों पर सवार हो कृष्ण तक पहुँचता है और भ्रमर का प्रवेश मन-रूपी कृष्ण के रूप में कवि की मौलिक कल्पना है । यशोदा की दशा का वर्णन करते हुये कवि कहता है—

"अति उदास, बिन आस, भई तन-सुरति भुलानी ।
पूत-प्रेम सों भरी परम, दरसन-ललचानी ॥
बिलपति कलपति अति भई, लखि जननी निज स्याम ।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम ॥
भ्रमर के रूप में ॥"

कृष्ण को भ्रमर मान लेने पर भ्रमर का कार्य कृष्ण के अनुरूप कवि की विशेषता है—

"ठिठक्यौ, अटक्यौ भ्रमर देखि जसुमति महरानी ।
निजदुख सों अति दुखी ताहि मन में अनुमानी ॥"

यशोदा देखती हैं । उन्हें प्रसन्नता होती है यह देख कर कि वह भी इनके दुःख में दुःखी है । फलस्वरूप वे इस नवागन्तुक मित्र को ही दूत के रूप में भेजना उचित समझती हैं । वे भँवरे से कहती हैं, जिसमें

किंचित मुसकान एवं व्यंग भी है—

"तेरा तन घनस्याम, स्याम घनस्याम उतै सुनि ।
तेरी गुंजन मुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि ॥
पीत रेख तव कटि बसति, उत पीताम्बर चारु ।
विपिन विहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगार ॥
जुगल रस के चखा ।।"

उसके बाद वे संदेश देती हैं जो अपने ढंग का निराला है । कतिपय विद्वानों के कथनानुसार इसमें स्वदेश भक्ति की छटा नहीं है । यशोदा की जननी-जन्मभूमि विस्तृत नहीं सीमित है—

"जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहुँ ते प्यारी ।
सो तजि सबरो मोह साँवरे, तुमनि विसारी ॥"

उन्हें आश्चर्य और दुःख होता है—

"का तुम्हरी गति-मति भई, जो ऐसो बरताव ।
किधौं नीति बदली गई, ताको परयौ प्रभाव ॥
कुटिल विष को भरयौ ।"

इतना कहते कहते पुत्र का चाँद-सा मुँह आँखों के सामने आ जाता है और वे विकल हो जाती हैं । उनकी आँखें डबडबा जाती हैं । वह कह उठती है—

"सुधी कालिन्दी-कूल-कदम्बन के वन आये ।
मदन-मदन के कुंज-भवन मन हरन सुहाये ॥
सुखी सुमन की पुंज थे, परम प्रमोद समाज ।
ते मुकुन्द बिन बिष भये, सारे सुखमा साज ॥
विष बोरी आपनी ।।"

जड़ हूँह्वौ चेतन मनों, दीन मलीन लखात ॥
एक माधौ बिना ॥"

ग्राम्य जीवन के अभ्यस्त कृष्ण नागरिक वातावरण में सुखी हो सकेंगे, इसका भी विश्वास मां को नहीं था। और शहर के भोजन की तुलना करती हुई यशोदा के शब्दों में उनके मनोभावों का चित्र ही है—

"यहँ कौ नव नवनीत मिल्यौ मिसरी ग्रति उत्तम।
भला सकैं मिलि कहाँ सहर में सद याके सम ॥
रहै यही लालो अजहुँ, काढ़त यहिँ जव भोर।
भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन चोर ॥"

यशोदा कृष्ण के अभाव में गोपों के लिये चिंतित हैं। वे कहती हैं—

"जदपि सकल विधि ये सहत, दारुन अत्याचार।
पै नहिं कछु मुख सो कहत, कोरे वने गँवार ॥
कोउ अगुआ नहीं ॥"

अत्याचारी कौन था और अत्याचार कौन से थे, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। वर्तमान को भूत में मिलाने के असफल प्रयत्न का यह उदाहरण बन कर रह जाता है।

यशोदा कहती हैं—

"वेलि नवेली अलवेली दोउ नम्र सुहावैं।
तिनके कोमल सरल भाव को सव जस गावैं ॥
अव की गोपी मदभरी, अधर चलै इतराय।
चार दिना की छोहरी, गई ऐसी बौराय ॥
जहाँ देखो तहाँ ॥"

यहाँ भी कवि वर्तमान के मोह को नहीं छोड़ सका है। इससे प्रस्तुत प्रसंग का क्या संबंध है कहा नहीं जा सकता। कृष्ण की अनुपस्थिति तो इस परिवर्तन का कारण नहीं हो सकती। इन दोषों के रहते भी यहाँ माँ का हृदय ही प्रधान रहा है—

"गोरी को गोरे लागत जग अतिहीं प्यारे ।
मो कारी हौ कारे तुम नयननु के तारे ॥
उनको तो संसार सब मो दुखिया को कौन ।
कहिए, कहा विचार है, जो तुम साधी मौन ॥
बने अपस्वारथी ॥"

कुछ व्यक्ति "गोरी को गोरे" का संकेत अँग्रेजों की ओर बताते हैं पर यह उचित नहीं, यहाँ तो दो "कारे" एक दूसरे से मिलाने के प्रयत्न में हैं ।

कवि का अंतिम प्रकाश वर्तमान का वर्णन है । यशोदा कहलाती हैं—

"पहले होतो अब न तिहारो यह वृन्दावन ।
याके चारों ओर भये बहु विधि परिवर्तन ॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन पुंज ।
देखन कों बस रहि गये, निधुवन सेवा कुंज ॥
कहाँ चरिहैं गऊ ॥"

था अपनों से विछोह। इस बंधन के प्रति उनके हृदय में विद्रोहात्मक भावनायें भरी हुई थीं। उनका हृदय कहता था तोड़ दूँ, इसे बुद्धि कहती थी नहीं यह सब मोह है, अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये—

"बोले वारिद गात पास बिठला सन्मान से बन्धु को।
प्यारे सर्व विधान ही नियति का व्यामोह से है भरा॥
मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त उन्मुक्त था।
पाता हूँ अब मैं नितान्त उसको आबद्ध कर्तव्य में॥"

उनकी चिन्ता सीमित न रह कर व्यापक थी। बहुत दिनों से वे शान्त थे पर अब मन की अशान्ति बढ़ती जा रही थी। उन्होंने कहा—

"शोभा अद्भुत-शालिनी-ब्रजधरा-प्यारी पगी गोपिका।
माता-प्रीति-मयी सनेह प्रतिमा, वात्सल्य-धाता पिता॥
प्यारे गोप कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा॥"

उद्धव को ब्रज भेजने का कारण उनका गर्व नहीं है, वे इतना ही कह कर रह जाते हैं—

"ऊधो दग्ध वियोग से ब्रजधरा है हो रही नित्यशः।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से॥"

राधा को अलग से संदेश भेजना उपयुक्त समझा गया है। राधा कामिनी राधा के रूप में नहीं वरन् गौरव युक्त नारी के रूप में आती हैं, और न साक्षात देवी हैं—

"जो राधा वृषभानु-भूप-तनया स्वर्गीय दिव्यांगना।
शोभा है ब्रज-प्रान्त की अवनि की स्त्री जाति की वंश की॥
होगी हा! वह दग्ध सी व्यथित ही मेरे वियोगाग्नि में।
जो हो संभव तो विनोद कर के तो शान्त देना उसे॥

उद्धव ब्रज के लिये प्रस्थान करते हैं। मार्ग में प्रकृति का निरीक्षण करते जाते हैं। प्रकृति नाना रूपों में उनके सम्मुख उनके मनोभावों

के अनुसार बन कर आती है। मार्ग का इतना सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन अन्य कवियों ने नहीं किया है। इस प्रसंग में हमें कवि की मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। आगे आने वाले प्रसंग की भूमिका इसे हम कहें तो अत्युक्ति न होगी। उद्धव के मानसिक द्वन्द का भी सुन्दर चित्रण यहाँ हम पाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उद्धव भी इसे नहीं सोच सके थे कि किन शब्दों में और किस सिद्धांत के आधार पर हम गोपियों से बात करेंगे। अंतिम परिणाम क्या होगा इसका भी संकेत हमें मिल जाता है। भक्त उद्धव खिले हुए पुष्पों को देखते हैं —

"गा ऊँचा करके स-पुष्प कर को फूले द्रुमों व्याज से।
श्री-पद्मा-पति के सरोज पग को शैलेश था पूजता॥"

और कहीं—

"स्व अंक में पत्र प्रसून मध्य में।
लिये फलों व्याज सुमूर्ति शंभु की॥
सदैव पूजा रत सानुराग था।
त्रिलोकिना- पूजित - कृष्ण - विश्व का॥"

आँसू है वह ढालता विरह से किम्वा ब्रजाधीश के ॥"
आगे आने वाले दृश्यों का संकेत भी प्रकृति उन्हें दिला रही थी—

"सन्मान थी मेदिनी में विलुंठिता।
प्रवंचिता हो प्रिय चारु अंक से ॥
तमाल के से असितावदात की।
प्रियोपमा श्याम • लता प्रियंगु की ॥"

संयोग सुख में क्या आनन्द है वह उनके सन्मुख था—

"प्रसून शोभी तरु पुंज अंक में।
लता अनेकों लपटी प्रफुल्लिता ॥
जहाँ तहाँ थी घन में विराजिता।
स्मिता समालिंगित कामिनी समां ॥

परन्तु इस मुग्धकारी दृश्य को वे देर तक नहीं देख सके, प्रकृति हरित थी, प्रसन्न थी—

"परन्तु वे पादप में, प्रसून में।
फलों दलों बेलिलता समूह में ॥
सरोवरों में, सरि में, सु-मेरु में।
खगों मृगों में, वन में, निकुंज में ॥
बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता।
विलोकते थे निज-सूक्ष्म दृष्टि से ॥"

वे समीप पहुँचे, एक विचित्र घटना घटित होती है। उन्होंने अनुभव किया कि कितना कठिन कार्य वे करने के लिये आये हैं—

"अनेक गायें तृण त्याग दौड़ती।
सवत्स जाती चर यान पास थीं ॥
परन्तु पाती जब थीं न श्याम को।
विषादिता हो पड़ती नितान्त थीं ॥"

पशुओं की यह अवस्था थी तो अन्य लोगों का क्या कहना? गोपियाँ भी दौड़ीं पर हाथ निराशा ही आई। हृदय पर पत्थर रख कर नंद ने

उद्धव का स्वागत किया परंतु और सब विचार कर रहे थे—

"वह परम-अनूठे रत्न को ले गया था।
अब यह व्रज आया कौन सा रत्न लेने॥"

वे यशोदा से मिलने गये, बातें हुईं। मां ने पूछा—

"प्यासा-प्राणी श्रवण करके वारि के नाम ही को।
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे॥"

इसका उत्तर उद्धव के पास न था। उद्धव ने ज्ञान की ज्योति बिखरानी चाही पर वे बेचारी किन आँखों से उसे देखें, इतना ही कह कर रह जाती हैं—

"मेरी आँखें युगल अति ही ज्योति हीना हुई हैं।
कैसे ऊधो जग-तम-हरी ज्योति को वे लहेंगी॥
जो देखेंगी न मृदु-मुखड़ा इन्दु-उन्माद-कारी।"

उद्धव ने उस ज्वाला को संदेश सुना कर शान्त कर देना चाहा पर उससे उन्हें मतलब? सीधी सी बात है—

"प्यासे की है न जल-कण से दूर होती पिपासा।
सम्वादों से न अभिलपिता शान्ति पाता वियोगी॥"

उद्धव अवाक् रह गये, उन्हें ज्ञात हुआ कि कितनी दयनीय अवस्था उनकी है। उद्धव क्या कृष्ण भी इस महान् हृदय के सामने तुच्छ थे। मां को गर्व था—

"सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय मां के तुल्य तो भी नहीं है॥"

पुत्र अपनी मां को भले ही भूल जाय पर मां का अपने पुत्र को भूल जाना कहीं भी नहीं सुना गया है। उसके आँख से दूर होते ही मां को कितनी चिंतायें घेर लेती हैं, कहा नहीं जा सकता? उसे विश्वास ही नहीं होता कि बिना उसके और भी कोई उनसे उतना प्यार कर सकेगा। यह देखा गया है कि जब कोई प्यारा चला जाता है तो स्त्रियाँ उनका गुण कथन करके रोती हैं। यहाँ भी यशोदा कहती हैं—

"संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी॥
जैसे ले के स-रुचि सुत को अंग में मैं खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन वामा सकेगी॥"

यशोदा अपने लिये ही दुःखी नहीं थीं, उनका दुःख व्यापक था। उन्हें आश्चर्य होता था कि उनका पुत्र क्यों कर इतना बदल गया और उन्हें आश्चर्य होता था अपने पुत्र के किये हुए कार्यों पर—

"कैसे भूलीं सरस-खनि सी प्रीति की गोपियायें।
कैसे भूले सुहृदयन के सेतु से गोप ग्वाले॥
शान्ता धीरा मधुर हृदया प्रेम रूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय प्रतिमा-राधिका मोहमग्ना॥"

यशोदा के चरित्र चित्रण की सब से बड़ी विशेषता उनके मानवी होने में हैं। सूर की यशोदा की भाँति वे देवकी से दया की भिक्षा नहीं माँगती। सत्यनारायण कविरत्न की यशोदा की तरह उनमें राष्ट्र की भावना भी हिलोरें नहीं मारतीं। "हरिऔध" की यशोदा मानवी हैं, उन्हें ईर्ष्या होती है जब वे सोचती हैं—

"हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय! जो यों कभी है।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है॥"

लाचार होकर कहती हैं—

"प्यारे जीवें प्रफुलित रहें औ बने भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला और बारेक जावें॥"

कह तो गईं पर इससे उन्हें संतोष नहीं मिला। उनकी इसमें हार थी। अब तो जो होना था हो ही चुका पर इतिहास पुनरावृत्ति न कर सके, इसलिये उद्धव को सम्बोधित करते हुए ईश्वर से उन्होंने प्रार्थना की—

"ऊधो सीपी-सदृश न कभी-भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे॥"

कवि ने वृद्ध गोप एवं नवयुवक गोपों को भी अवसर दिया है कि

वे अपनी व्यथा सुनावें। जैसा कि हम देखते आये हैं, अन्य कवियों की दृष्टि इस ओर नहीं गई है। इसे हम हरिऔध जी की मौलिकता ही कह सकते हैं। एक नवयुवक गोप कृष्ण के गुण कथन कर लेने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—

"मुकुन्द चाहे यदुवंश के बनें।
सदा रहें या वह गोप-वंश के॥
न तो सकेंगे ब्रज-भूमि भूल वे।
न भूल देगी ब्रज मेदनी उन्हें॥"

एक वृद्ध गोप ने भी अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, उसके कथन में कृष्ण के लिये आशीर्वाद, शिक्षा और मिलने की अभिलाषा थी—

"जहाँ रहें श्याम सदा सुखी रहें,
न भूल जायें प्रिय-तात-मात को।
कभी कभी आमुख मंजु को दिखा,
रहे जिलाते ब्रज-प्राणि-पुंज को॥"

कवि ने गोपियों का प्रवेश बड़े सुन्दर ढङ्ग से कराया है जिसमें सहृदयता और कौशल है। अन्य कवियों की गोपियों की भाँति उद्धव का आना सुनकर वे दौड़ नहीं जाती, वे आती हैं पर शनैः शनैः कुलवधू की भाँति—

"आईं वामा कतिपय इसी काल फूलार्कजा के।
आशाओं को ध्वनित करके पाँव के नुपूरों से॥"

उनकी मानसिक अवस्था सोचनीय थी पर उनमें संयम था जो कुल-देवियों की शोभा है—

"ज्यों ज्यों लज्जा-विवश वह थी रोकती वारि धारा।
त्यों त्यों आँसू अधिक तर थे लोचनों मध्य आते॥"

इसके बाद उद्धव ने कृष्ण का संदेश उन्हें सुनाया—

"बोले ऊधो समय-गति है गूढ़-अज्ञात बेंड़ी।
क्या होवेगा कब यह नहीं जीव है जान पाता॥

आवेंगे या न अब व्रज में आ सकेंगे विहारी।
हा! मीमांसा इस दुख-पगे प्रश्न की क्यों करूँ मैं ॥"

उद्धव को भी दुःख था वे उनकी दशा को देख प्रभावित हो रहे थे। पर ज्ञान की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य था, उन्होंने कहा—

"वे जी से हैं अवनि जन के सर्वथा श्रेय चाही।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥"

एक का त्याग अगर जगत के हित के लिये हो तो उचित है इसलिये तुम्हें संतोष धारण करना चाहिए। और अपने को बड़े से बड़े दुःख को झेलने के लिए तैयार कर लेना चाहिये। इस दृष्टिकोण को रख कर उचित तो है कि—

"जो ऐसा हो कुदिन व्रज का मेदनी-मध्य आवे।
तो थोड़ा भी हृदयबल को गोपियो! खो न देना ॥"

दर्शन के एक निश्चित सिद्धांत को दृष्टि-पथ में रखते हुए उद्धव ने कहा—

"प्रायः होता हृदयन्तल है एक ही मानवों का।
जो पाता है न सुख यक तो अन्य भी है न पाता ॥"

बेचारी गोपियाँ कृष्ण को तो खो ही चुकी थीं और उद्धव की इच्छा थी कि उनकी बची हुई स्मृति भी लेते चलें, इसलिये वे धमकी देते हुए कहती हैं—

"यों ही रो रो सकल व्रज जो दग्ध होता रहेगा।
तो आवेगा व्रज-अधिप के चित्त को चैन कैसे ॥"

और—

"जो होवेगा न चित उनका शान्त-स्वच्छन्द चारी।
तो वे कैसे जगत हित को चारुता से करेंगे ॥"

इसलिये—

"धीरे धीरे भ्रमित-मन को योग द्वारा सम्हालो ॥"

गोपियों ने अपनी असमर्थता प्रकट की और उनका कारण सरल था—

"भूला जाता वह सजन है चित्त में जो बसा हो।
देखा जा के सुहृद जिसको लोचनों में रमा हो॥
कैसे भूले कुँवर जिसमें चित्त ही जा बसा है।
प्यारी शोभा निरख जिसकी आप आँखें रमी हैं॥"

वे अपने को न सम्हाल सकीं एक बार वे विलाप कर कहने लगीं—

"मीठे मीठे वचन जिसके नित्य ही बोलते थे।
हा! कानों से श्रवण करती हूँ उसी की कहानी॥
भूले से भी न सुधि उसको आज हूँ देख पाती।
जो निर्मोही कुँवर बसते लोचनों में सदा थे॥"

उनकी एक इच्छा थी जिसे निस्संकोच हो उन्होंने कहा—

"ब्याही जाऊँ कुँवर सँग मैं एक वांछा यही थी।"

वे कुछ और आगे बढ़ती हैं और उनमें अब लज्जा तो रह ही नहीं गई थी। अपनी शारीरिक स्थिति को स्पष्ट करती हुई उन लोगों ने कहा कि ज्ञानी को इतना जान लेना अनुचित न होगा कि हमारे—

"सर्वांगों में लहर उठती यौवनाम्भोधि की है।
जो है घोरा परम-प्रबला औ महोच्छ्वासशीला॥"

अरे हमारी तो बात जाने दो वह कितना शक्तिशाली है इससे ही ज्ञात होता है कि—

"तोड़े देती प्रबल तरि जो ज्ञान औ बुद्धि की है।
घातों से है दलित जिसके धैर्य का शैल होता॥"

ज्ञानी उद्धव के प्रति भी इस उक्ति में एक व्यंग है।

स्वभावतः एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि एक कृष्ण इतनी गोपियों से क्यों कर विवाह कर सकेंगे? और करना मर्यादा की दृष्टि में अनुचित न होगा? इसका समाधान गोपियाँ सुन्दर रूप से करती हैं जिसका आधार प्रकृति का नियम है—

"आसक्ता हैं अमित-नलिनी एक छाया-पती में।
प्रेमोन्मत्ता विमल विधु की हैं सहस्रों चकोरी॥

जो वाला है विपुल हरि में रक्त वैचित्र्य क्या है।
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ॥"

इस उक्ति के द्वारा कवि ने कृष्ण के कलंक को छिपाने का प्रयत्न किया है। गोपियाँ फिर कहतीं हैं कि अगर तुम यह पूछो कि हम उनसे ही क्यों प्रेम करती हैं ? तो दोष हमारा नहीं है—

"जो धाता ने अवनि-तल में रूप की सृष्टि की है।
तो क्यों ? ऊधो न यह नरके मोह का हेतु होगा ॥"

समझाना ही था तो उस 'बुड्ढे' को समझाते जो इसका कारण है। फिर उद्धव से प्रार्थना करती हुई वे कहती हैं कि इन वे सिर पैर की बातों को छोड़ो, कुछ सहायता ही करना चाहते हो और हमें इस दुःख से बचाना चाहते हो, तो—

"देखूँ प्यारा वदन जिनसे, यत्न ऐसे बता दो।"

उन्होंने अंत में उद्धव से कहा कि हम तुम्हारे मार्ग पर चल सकने में असमर्थ हैं। कृष्ण के बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं रह जाता, उदाहरण स्वरूप—

"कुंजें वही थल वही यमुना वही हैं।
वेलें वही वन वही विटपी वही हैं ॥
हैं पुष्प-पल्लव वही ब्रज भी वही है।
ए किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते ॥"

उद्धव आगे बढ़े और देखकर सन्न रह गये। एक गोपी विरह के कारण प्रलाप कर रही थी। वह एक लाल रंग के फूल को देख कर बोल उठी—

"तेरी प्यारी-मधुर-सरसा-लालिमा है बताती।
तू डूबा है हृदय तल लौं लाल के रँग ही में ॥"

उससे उत्तर न पा सकने के कारण अपने बेसुधपन में खोज कर वह जूही से बोल उठती है—

"मेरी बातें तनिक न सुनो पातकी-पाटलो ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है॥"

उसने देखा जूही में एक परिवर्तन है—

"वैसी ही है सकल दल में श्यामता दृष्टि आती।"

लेकिन जब गोपी स्वयं बदल चुकी थी, तो एक मानसिक स्तर पर कितनी देर ठहरती, बिगड़ उठी—

"तू फूली है हरित-दल में बैठ के सोहती है।
क्या जानेगी कुसुम बनते म्लान की वेदनायें॥"

परन्तु पुष्पों से ओसकणों का गिरना नारी हृदय न सह सका। संवेदना अब उनके साथ थी—

"क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य योंही।
जो पत्तों में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं॥
पीड़ा द्वारा मथित उर के प्रायशः काँपती है।"

इतने में संदेह हो जाता है, संभव है—

"या तू होती मृदु पवन से मन्द-आन्दोलिता है।"

निराश होकर फिर वह आगे बढ़ती है, इस आशा को लिये हुए कि कोई तो उसके साथ सहानुभूति दिखायेगा। दृष्टि चम्पा पर जाती है और साथ ही संतोष होता है—

"मेरी तेरी बहुत मिलती वेदनायें कई हैं।
आ रोऊँ ए भगिनि तुमको मैं गले से लगा के॥"

क्योंकि—

"सर्वांगों में सरस रज औ धूलियों के लपेटे।
जो पुष्पों में सर्वविधि करता गर्भ आधान जो है॥
जो जाता है मधुर रस का मंजु जो गूँजता है।
ऐसे प्यारे रसिक अलि से तू असम्मानिता है॥"

फिर उसे अपने पर ही दुःख होता है, वह कहती है—

"अभागिनी हूँ अति मैं विराजती।
न श्यामता है जिसके शरीर में॥"

इतने में वह एक भ्रमर को देखती है। अभिलाषा होती है उससे कुछ अपने हृदय की कहें। भ्रमर को उड़ जाते देखकर उससे नहीं रहा जाता, वह कहती है—

"कुवलय-कुल में से तो अभी तू कटा है।
बहु विकसित प्यारे पुष्प में भी रमा है॥
अलि अब मत जा तू कुंज में मालती की।
सुन सुन अकुलाती ऊबती की व्यथायें॥"

वह फिर बताती है कि हम तुम्हीं से क्यों ये बातें कर रही हैं—

"कुछ वह उनसे, है चित्त में मोद होता।
छिति पर जिनकी हूँ श्यामली मूर्ति पाती॥"

पर भला भ्रमर को उनकी क्या चिंता थी। उसे जाते देख क्षुब्ध हो गोपी सव्यंग कहती है—

"कुछ दुख नहिं कोई बाँट लेता किसी का,
सब परिचय वाले प्यार ही हैं दिखाते।
यदि नहिं इतना भी हो सका तो कहूँगी,
मधुकर यह सारा दोष है श्यामता का॥"

ऐसे निर्मोही से संदेश क्या भेजना। किसी को उपयुक्त पात्र समझ कर वह उससे प्रार्थना करती है—

"अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा,
सुना स्ववेधी-स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की,
कठोरता व्यापकता गँभीरता॥"

उद्धव निःस्तेज हो वहाँ सुनते रहे। साहस उनमें न था कि वे गोपी से कुछ कहते। पिकी को संदेश-वाहक बनाकर भेजना हरिऔध जी की मौलिकता का एक उदाहरण है।

यही दशा इस समय हमारी है। तुम यह न समझो कि कृष्ण की हम शुभचिन्तक नहीं या उनके आदर्शों को हम नहीं जानतीं। तुम्हें समझ रखना चाहिये कि—

"प्यारे प्यारे, परम प्रिय का मर्म मैं बूझती हूँ।
है जो पीड़ा निहित उर में जानती भी उसे हूँ॥"

इसलिए—

"यत्नों-द्वारा प्रति-दिन अतः संयता मैं महा हूँ।"

पर आश्चर्य है—

"तो भी देती विरह जनिता वासनायें व्यथा हैं॥"

'हरिऔध' जी ने यहाँ राधा को देवी न मानकर मानवी ही माना है। काम का वेग एक नारी के नाते वे सह सकने में असमर्थ हैं, पर किसी तरह उसे दबा कर वे रखती हैं। साथ ही उनकी अभिलाषा नारी का स्वाभाविक धर्म है—

"होते मेरे निबल-तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती॥"

इसके आधार पर वे निश्चय पूर्वक कहती हैं कि इसे तुम्हें नहीं भूलना चाहिये—

"मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूलदूँ क्यों।
काढ़ूँ कैसे हृदय-तल से श्यामली मूर्ति न्यारी॥
जीते जी जो न हम सकती भूल हैं मंजु तानें॥
तो क्यों होंगी रहित प्रिय के लाभ की लालसायें॥"

इसका कोई उत्तर उद्धव के पास न था। राधा अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ चिरंतन सत्य थी। राधा की समझ में नहीं आ रहा था कि कोई क्यों कर अपने को इससे दूर रख सकता है। विधाता का विधान यदि सत्य है, तो यह अवस्था भी सत्य है और जब तक सृष्टि रहेगी यह सत्य रहेगा। उन्होंने कहा—

"क्यों मोहेंगे न दृग लख के मूर्तियाँ रूप वाली।

कानों को भी मधुर-स्वर से मुग्धता क्यों न होगी ॥
क्यों डूबेंगे न उर रँग में प्रीत-आरंजितों के।
धाता द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे हैं ॥"

भला ज्ञानी उद्धव को वे कैसे समझायें कि—

"जो ताराओं-खचित नभ को देखती हूँ निशा में।
या मेघों में मुदित-बक की पंक्तियाँ दीखती हैं ॥
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानों मुक्ता-लसित-उर है श्याम का दृष्टि आता ॥"

इसका यह अर्थ नहीं है कि दो प्रेमी प्रति पल प्रेमालाप ही किया करें। प्रेम जीवन का एक प्रमुख अंग है, परंतु उसे लोकहित को दृष्टिपथ में रखते हुए सीमित रखना ही उचित है। सामंजस्य की भावना 'हरिऔध' की राधा की विशेषता है। उनकी अभिलाषा है कि—

"प्यारे आवें सु-वचन कहें प्यार से गोद ले लें।
ठंढे होवें नयन, दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ ॥
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें ॥"

ज्ञानी उद्धव के ज्ञान-गर्व का खंडन करती हुई राधा कहती हैं कि हम भी जानती हैं कि यह विश्व विश्वात्मा की विभूति है परन्तु तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि—

"पाती हूँ विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैंने जगत पति को श्याम में है विलोका ॥"

शास्त्रीय ढंग से भी राधा ने अपनी उक्ति का समर्थन करती हैं, राधा उद्धव को बतलाती हैं—

"जगत-जीवन-प्राण स्वरूप का।
निज-पिता जननि गुरु आदि का ॥
स्व-पिया का प्रिय साधन भक्ति है।

वह अ-काम महा-कमनीय है ॥
श्रवण कीर्तन वन्दन दासता ।
स्मरण आत्म निवेदन अर्चना ॥
सहित सख्य तथा पद सेवना ।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है ॥"

सिद्धांत को स्पष्ट कर लेने के बाद दोनों का एकीकरण करते हुए राधा ने कहा—

"कह चुकी प्रिय साधन ईश का ।
कुँवर का प्रिय साधन है यही ॥
इसलिये प्रिय की परमेश की ।
परम पावन भक्ति अभिन्न है ॥"

अन्य कवियों ने जो बातें गोपियों से कहलाई हैं उसे यहाँ कवि ने राधा के द्वारा कहलाया है। राधा की मूक वेदना में अपना एक विशेष सौन्दर्य है, परंतु यहाँ कवि का दृष्टिकोण भिन्न रहा है। यहाँ तक जैसा हम देख चुके हैं राधा मानवी के रूप में ही चित्रित की गई हैं, परंतु कवि ने आगे उसे भी देवी रूप दिया। राधा कहती हैं—

"मैं ऐसी हूँ न निज-दुख से कष्टिता शोक-मग्ना ।
हा ! जैसी हूँ व्यथित-व्रज के वासियों के दुखों से ॥"

हमारे ही नहीं, कवि के हृदय में भी यह भावना उठती है कि उसने राधा के साथ अत्याचार किया है। भरत वाक्य के रूप में कवि कहता है—

"सच्चे-स्नेही अवनि जन के देश के श्याम जैसे ।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व के प्रेम डूबी ॥
हे विश्वात्मा ! भरत-भुवि के अंक में और आवें ।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे ॥"

राधा की कौन कहे व्रज की गोपियों की अंतिम अभिलाषा यही थी कि—

"विधि-वश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं।
मम तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना॥
उस पर अनुकूला हो, बड़ी मंजुता से।
कल कुसुम अनूठे-श्यामता के उगाना॥"

हरिऔध ने मर्यादा का अंत तक ध्यान रक्खा है, जिसके फलस्वरूप उद्धव व्यंगोक्ति सुनने से बच जाते हैं। गोपियों एवं राधा में चांचल्य का एकान्त अभाव है। काम की पीड़ा उनमें अपने चरम पर पहुँची ज्ञात होती है पर वे केवल प्रलाप कर के और रोकर ही कुछ कह पाती हैं।

मैथिली शरण जी की विशेषता उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा है। 'भारत भारती', 'स्वदेश संगीत' और 'किसान' में जहाँ हम स्वदेश प्रेम की भावना पाते हैं,वहीं 'द्वापर' में कवि ने कुछ पद भ्रमर संबंधी लिखे हैं, जिसमें हृदय ही प्रधान रहा है। हरिऔध जी की भाँति एक ही ग्रंथ में दो विपरीत भावों को वे नहीं रखते, इसे हम उनका नवीन दृष्टिकोण ही कह सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्यनारायण कविरत्न ने जिस शैली को जन्म दिया था, उसे अन्य कवियों ने ग्रहण नहीं किया। हरिऔध जी उस सीमा तक नहीं जा सके और गुप्त जी ने तो पीछे की ओर लौटना ही उपयुक्त समझा—

उद्धव को ब्रज भेजने का कारण कवि ने नहीं दिया है। हरिऔध जी की भाँति मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों का भी वर्णन इन्होंने नहीं किया है। उद्धव ब्रज जाकर यशोदा से मिलते हैं और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

"अम्ब यशोदे, रोती है तू।
गर्व क्यों नहीं करती?
भरी भरी फिरती है तेरे।
अंचल-धन से धरती॥"

कवि ने यशोदा की मर्यादा को सुन्दर ढङ्ग से निभाया है। उद्धव समझाते अवश्य हैं परंतु ज्ञान का उपदेश सीधे-सीधे नहीं देते। उद्धव

हमारे सामने सहृदय व्यक्ति के रूप में आते हैं। मीठी झिड़की के साथ सविनोद कहते हैं—

"अब शिशु नही, सयाना है वह,
पर तू यह जाने क्या
आया है वह तेरी माखन,
मिसरी ही खाने क्या ?"

समझाते हुए आगे उन्होंने कहा कि तुम्हें नहीं मालूम ! वह क्या सामान्य मनुष्य है ? तुम्हें जानना चाहिए—

"प्रेम पिशाच झाड़ने आया।
मनुष्यत्व के वह तो ॥"

तत्कालीन ब्राह्मणों के अत्याचारों को ध्वनित करते हुए और उनके ढोंग को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि उन्हें शांत रखना कृष्ण का ही काम है—

"पर उद्दण्ड-द्विपद-पण्डों का,
शासक वही भुवन में।"

यह थी उद्धव की भूमिका। जब उन्होंने देखा कि मां के आँसू स्थिर हो चले तो कुछ साहस से आगे बढ़े—

"माँ, तुझको किसकी चिन्ता है,
अच्युत है सुत तेरा।"

यशोदा इतने से ही संतुष्ट हो जाती हैं जो खटकने वाली बात है। यशोदा की यह उदारता—

"वह उस दुखिया को दुलरावे।"

कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है। इस घटना से प्रसंग का आनन्द ही जाता रहता है।

उस समय उद्धव की सहृदयता चरम पर पहुँच जाती है जब वे गोपियों की दशा का वर्णन स्वयं करते हैं। गुप्त जी ने उद्धव के चरित-चित्रण को इस प्रसग में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। सूर आदि के उद्धव

की तरह गुप्त जी के उद्धव नीरस नहीं हैं, वे कोमल-हृदय के प्रतीत होते हैं। उद्धव गोपियों की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"हो हो कर भी हुई न पूरी,
　　ऐसी अभिलाषा-सी।
कुछ अटकी आशा सी, भटकी,
　　भावुक की भाषा सी।
बालक की कच चेष्टा सी, जो
　　पा न सके, पर लपके।
उस जलती भट्ठी-सी जिससे,
　　उड़ उड़ मदिरा टपके।
उस उत्कंठा-सी, जो थम थम,
　　चौंक उठे थकी-सी।
खुल कर भी जो सुलझ न पाई,
　　उस उलझी वेणी सी।"

यहाँ तक तो गोपियों के शील एवं मारल्य की ओर संकेत किया गया है। बाद में उन्हें उद्धव ज्ञान की दृष्टि से देखते हुए कहते हैं—

"अपने परमात्मा से बिछुड़े,
　　जीवात्मा की गति-सी।"

इतने से कवि ने इस बात का संकेत दे दिया है कि उद्धव जिस कार्य से आये हैं, उसे उनकी भावुकता नहीं दबा सकती। मनुष्य के नाते उनका हृदय गोपियों के साथ है, पर दूत-कार्य ने उन्हें विवश कर दिया है। गुप्त जी की गोपियाँ भी अन्य गोपियों से भिन्न हैं, इस अवस्था में भी उनका बचपन और कृष्ण के प्रति सात्विक प्रेम ही विशेष रूप से दिखलाई देता है। अपना कार्य सिद्ध करने के लिये उद्धव गोपियों को भुलावे में डालकर कृष्ण के स्वरूप का बोध कराते हुए पूछते हैं—

"कैसे तुम उसको पाओगी,

प्राप्य अन्ततः यह परमात्मा।
आत्मा ही के द्वारा।"

ध्यान रखना—

"मिथ्या माया का प्रपंच है।
दृश्य मान यह सारा॥"

गुप्त जी के उद्धव नीतिज्ञ ज्ञात होते हैं। यहाँ उद्धव की बातचीत करने की शैली सबसे निराली है। वे पहले तो यशोदा को फुसलाते हैं फिर मीठी झिड़की सुनाकर उन्हें निरुत्तर कर देते हैं। उसी प्रकार गोपियों के साथ अपनी सहानुभूति दिखला कर उनके क्रोध को शान्त करते हैं, फिर कृष्ण को निर्गुण बतलाकर और जीवात्मा को उनको पाने के लिये उत्तेजित करके कहते हैं कि भ्रम में न फँसो, संसार माया का प्रपंच है। गोपियाँ अब भी चुप थीं। उद्धव ने राधा का साधारणीकरण करते हुए कहा—

"एक एक तुम सब राधा हो।
कहाँ तुम्हारी राधा?"

यहाँ उद्धव एक ओर तो गोपियों की स्थिति को बढ़ाकर उन्हें प्रसन्न करना चाहते हैं और दूसरी ओर राधा को सामान्य कहकर उन्हें महत्ता भी प्रदान करते हैं। इतना संदेह उद्धव को अब भी बना हुआ था कि ये सब बदल न जायें इसलिये ज्ञानी के दृष्टिकोण से राम और कृष्ण को एक समझते हुए कहते हैं—

"सच कहता हूँ, मैंने अपना।
राम तुम्हीं में पाया॥
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं।
यही पूछने आया॥"

पहली बार उद्धव ने गोपियों को ललकारा। इस उक्ति के द्वारा वे भक्ति-मार्ग को निर्बल सिद्ध करना चाहते थे। अगर भक्तिमार्गी गोपियाँ उत्तर न दे सकीं तो उनकी हार हुई क्योंकि वे तो ज्ञानी के नाते राम कृष्ण को एक ही समझ रहे हैं। गुप्त जी की मौलिकता

हमें इस स्थान पर ही दिखलाई देती है। पूर्व के किसी भी कवि ने इतने सुन्दर एवं क्रमिक ढंग से उद्धव के द्वारा इस बात को आगे नहीं बढ़ाया है।

साथ ही कवि ने गोपियों में भी इतनी शक्ति दे दी है कि छन्द सुन्दर रहे। राधा की ओर से वे कहती हैं कि उद्धव उसकी दशा अकथनीय है और उसकी तन्मयता अपने चरम पर है। राधा अगर यहाँ होती तो पहले वह बोल ही न पाती, और अगर—

"कर सकती तो करती तुमसे।
प्रश्न आप चट ऐसे—
सखे, लौट आये गोकुल से?
कहो, राधिका कैसे?"

तुम पूछते हो कृष्ण कहाँ हैं? दुःख इतना है कि—

"राधा हरि बन गई, हाय, यदि।
हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव, मधुवन से उलटे।
तुम मधुपुर ही जाते॥"

कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से गोपियों के द्वारा कृष्ण का सव्यंग उपहास कराया है।

कृष्ण के रूप में राधा की प्रति क्या भावना है इसको बतलाते हुए वे कहती हैं कि एक बार एक भ्रमर को आते देख कृष्ण रूपिणी राधा अपने को न सम्हाल सकी—

"पर तत्क्षण ही गरज उठी वह।
भौंह चढ़ा कर चौंकी—
सावधान अलि! हटकर लेना।
तू प्यारी की झाँकी!"

राधा की मानसिक स्थिति का इतना सुन्दर वर्णन हमें अन्यत्र नहीं

मिलता वे उद्धव को समझाती हुई आगे कहती हैं—

"ज्ञान-योग से हमें हमारा।
यही वियोग भला है॥
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण।
नाट्य, कवित्व, कला है॥"

इस तरह से गोपियों ने उद्धव को बतला दिया कि सरस हृदय नीरस ज्ञान की ओर जाने में असमर्थ है। वे कहती हैं कि तुम माया को मिथ्या बतलाते हो पर हम उसे नहीं मानतीं।
सोचो—

"मिथ्या कैसे है माया भी।
जब तक वह मायावी?"

पर तुम्हें यह रहस्य नहीं दिखलाई दे सकता। अगर तुम देखना चाहते हो तो हमारी आँखों से देखो—

"होता निर्गुण, निराकार वह।
छली तुम्हारे लेखे;
हमसे पूछो तुम, उसके गुन।
रूप हमारे देखे॥"

मनुष्यों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न होते हैं इसी की ओर कवि ने प्रकाश डाला है। वे इसके बाद उद्धव के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहती हैं कि तुम पूछते हो कृष्ण कहाँ हैं? अरे—

"अब तक यहीं ध्यान में तो था,
वह मोहन मन भाया।"

और दिखा भी देतीं—

"किन्तु आ पड़ी आन बीच में।
कुटल ज्ञान की माया!"

गुप्त जी की गोपियाँ सूर, चंद, नंद तथा हरिऔध की गोपियों की भाँति

गंभीर नहीं है, इनमें मर्यादा और वाग्विदग्धता का सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है।

गोपियाँ कहती हैं कि ज्ञानियों का तो यहाँ आना ही नहीं चाहिये था क्योंकि यहाँ 'सब धान बाइस पसेरी' है, हम ग्वालिन—

"क्या जानें, ज्ञानी में ठहरा।
ज्ञान कहाँ, कब सीखा;
ज्ञान और अज्ञान हमें तो।
यहाँ एक सा दीखा॥"

गोपियों के द्वारा साधारण रूप से यह राधा का उत्तर था। इतना सब होते हुए भी गोपियाँ कृष्ण को बुरा नहीं बताती। उनकी समझ से कृष्ण के बदल जाने का कारण उल्टी बुद्धि वालों की संगति ही है। वे कहती हैं—

"राजनीति का खेल यहाँ है,
सूक्ष्म-बुद्धि पर सारा।"

इसलिये—

"निराकार सा हुआ ठीक ही।
वह साकार हमारा॥"

इतने पर भी उन्हें संतोष है—

"यही बहुत हम ग्रामीणों को,
जो न वहाँ वह भूला।"

गोपियों में त्याग की भावना हम उस समय देखते हैं जब वे कहती हैं—

"सचमुच ही हम देख रहीं थी।
जगते जगते सपना;
जहाँ रहे बस सुखी रहे वह।
दुःख हमारा अपना!"

सबसे बड़ी विशेषता जो अन्यत्र नहीं मिलती वह यह है कि इनमें ईर्ष्या की भावना बिलकुल नहीं है। कृष्ण का गुणकथन करती

हुई वे कहती हैं—

"यौवन-सा शैशव था उसका,
यौवन का क्या कहना?
कुब्जा से विनती कर देना,
"उसे देखती रहना॥"

इसमें सन्देह नहीं कि इनके प्रेम में वासना का विशेष स्थान था।

भावावेष में वे कहती गईं पर उन्होंने इतना ध्यान रक्खा है कि मर्यादा के नियमों का उलंघन न हो। यह सोच कर कि ये प्रियतम के प्रिय सखा हैं कहीं ये बातें इन्हें लग न गई हों, उन लोगों ने कहा—

"कृपया वचन न मने में रखना,
तुम अन्यान्य हमारे।"

क्योंकि—

"विवशों का मन, वाणी को भी,
व्याकुल कर देता है।"

पर—

"आर्त्तों का आक्रोश ईश भी,
सुन कर सह लेता है।"

अच्छा तो था कि तुम यहाँ आते ही नहीं और न यह नौबत आती—

"ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो,
अपना अपना होता;
वक्ता भी क्या करे, न पावे,
यदि अधिकारी श्रोता?"

सच पूछिये तो उद्धव को बुद्धू बनाने का नया मार्ग गोपियों ने निकाल लिया था।

ज्ञानी उद्धव मोह को मिथ्या मानते थे और उसे दूर रखने की शिक्षा देते थे इसलिये विरोधी दल के लिये उसे अपनाना आवश्यक था। गोपियों ने कहा—

"हमें मोह ही सही, किन्तु वह,
उसी मन मोहन का ;
काम, किन्तु वह उसी स्याम का,
लोभ उसी जन धन का ॥"

और सगर्व गोपियाँ कहती हैं—

"वे अघ-चक सब कहाँ गये अब,
अरे एक तो आवे ;
देखें हमको छोड़ हमारा,
छली कहाँ फिर जावे ।?"

उद्धव से चुटकी लेती हुई वे फिर कहती हैं कि तुम झूट ही निर्गुण का ध्यान करने के लिए हमसे कहते हो। तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हारे निर्गुण को भी यहाँ आकर ही शान्ति मिली है। तुम्हें ज्ञान नहीं कि वह कब और कैसे यहाँ आया, सुनो—

"जीवन में यौवन-सा आया,
यौवन में मधु-मद-सा।
उस मद में भी, छोड़ परस पद,
आया वह गद्‌गद्‌ सा।"

उसके स्वागत की तैयारी में हमने ही योग नहीं दिया वरन् औरों ने भी अपना सहयोग प्रदान किया है यहाँ गोपियाँ वृन्दावन के उस महान आकर्षण की ओर संकेत करती हैं। जिसमें मधुवन, यौवन और मन्मथ एकाकार होकर राधा के मन का आकर्षण मंत्र बन जाते हैं—

"वृन्दावन में नव मधु आया,
मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन में मन, मन में,
एक मनोरथ आया।
उसमें आकर्षण, हाँ, राधा,
आकर्षण में आई।"

और तब—

"राधा में माधव, माधव में,
राधा-मूर्ति समाई।"

इसे देख कर गोपियों को कौन कहे प्रकृति भी आनन्द विभोर हो उठीं, और उन्होंने देखा—

"नई तरंगे थीं यमुना में,
नई उमंगे व्रज में।
तीन लोक से दीख रहे थे,
लोट-पोट इस रज में।"

गोपियों के द्वारा गुप्त जी ने कृष्ण-चरित्र की अलौकिकता की ओर यहाँ संकेत किया है। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' में तीनों लोकों की दृष्टि राम के कार्यों पर निहित दिखलाई गई है, उसी प्रकार यहाँ भी समस्त सृष्टि की दृष्टि कृष्ण पर ही केन्द्रित विदित होती है। गोपियों ने फिर कहा कि हमको समझाने से तुम्हें विशेष लाभ न होगा, प्रकृति की ओर भी तो देखो—

"सुन कर उसका शृंङ्ग-भङ्ग-रव
कौन न सुध-बुध-भूला।
झड़ पाया न फूल भी, जड़सा,
था फूला का फूला।"

जरा इन्हें तो समझा कर देखो। अरे तुम्हें हम क्या कहें ? दुर्भाग्य हमारा जो वही निर्मोही निकला। एक हम थीं कि—

"उसका सगुन साधने को हम।
शिरोभार सहती थीं॥
धरे भरे घट पथ में कब तक।
नित्य खड़ी रहती थीं॥"

और एक वह है जिसने तुम्हें यहां भेजा है। इसी बीच कहीं से एक विहंग उड़ता दिखाई पड़ा। और विहंग के मिस उद्धव को उपालंभ सुनाती

हुई गोपियाँ कहने लगीं—

"अरे विहंग, लौट आ, तेरा।
नीड़ रहा इस वन में॥
छोड़ उच्च पद की उड़ान यह।
क्या है शून्य गगन में?"

गुप्त जी ने भ्रमर का स्थान विहंग को देकर पुरानी रूढ़ि तोड़ी है।

चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। कहीं उद्धव यह न पूछ बैठें कि प्रकृति क्यों यह बाना धारण किये हुए है इसलिए गोपियाँ कहती हैं—

"अब जो हरियाली है सो सब।
आशा के कारण है;
कुसुमितता, वह पूर्व स्मृति की।
किये पुलक धारण है॥"

और यह पूछो कि कृष्ण के विरह में हम क्यों ज़िन्दा हैं तो उसका भी कारण सुन लो, हमारे लिए बस इतना ही सहारा है—

"रहे चेतना-सी बस उसकी।
मर्म - वेदना हम में॥
करती चले उजेला उसकी।
ज्वाला इस दुर्गम में॥"

और हमारी तो—

"आशा फूल, निराशा फल है।
इतनी मूल कहानी॥

और रही राधा तो उसे क्या चिंता हो सकती है, कृष्ण उससे दूर ही कब हैं। राधा की अनुपस्थिती का कारण यह है कि—

हर ले कोई राधा का धन।
पर वह भाग उसी का;
कृष्ण उसी का केश - पक्ष है।
सेंदुर राग उसी का!"

इतना सब कह चुकने पर गोपियों ने समझा कि इस सीमा तक कह जाना उनके लिये उचित नहीं था। भारतीय नारी को इतना अधिकार ही कहाँ है कि अपने आराध्य या आराध्य के प्रतिनिधि को बुरा भला कहें। उन्होंने सब दोष अपने माथे पर रखते हुए कहा—

"माधव भी सच्चे हैं सखियो।
उद्धव भी सच्चे हैं;
हाय! हमारे आँख-कान ही।
झूठे हैं, कच्चे हैं!"

परंतु गोपियों की इस स्वीकारोक्ति में नारी जीवन की मूक संवेदना ही गुंजकर व्याप्त हो रही है। यह सब होते हुये भी उनका विश्वास था और दृढ़ निश्चय भी था—

"चरणों में न पड़े तो कहना।
मुकुट - रत्न - मालाएँ॥
एक यही आशा लेकर हैं।
बैठी ब्रज बालाएँ॥"

और उनके इस विश्वास में आत्म समर्पण की ही शक्ति व्यक्त होती है। अन्य कवियों की गोपियों की तरह गुप्त जी की गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी विरह वेदना का निवेदन नहीं करतीं। आदि से अंत तक उन्होंने राधा की ओर से ही बातें की है। जिस प्रकार कृष्ण उनके आराध्य थे उसी प्रकार राधा उनकी आराध्या। जब भी अवसर मिलता है वे राधा की महानता को बढ़ाने का ही प्रयत्न करती हैं। वे बताती हैं कि राधा को दुःख है तो केवल एक ही—

"सुख की ही संगिनी रही मैं।
अपने उस प्रियतम की;
व्यथा विश्व-विषयक न तनिक भी।
बँटा सकी निर्मम की।"

इसमें संदेह नहीं कि हरिऔध की राधा की भाँति गुप्त जी की राधा

भी अपने विचारों और भावनाओं में आदर्श हैं। परंतु यहाँ विशेषता यह है कि सब होते हुए भी वह सामान्य नारी है। "निर्मम" शब्द का प्रयोग इसीलिये करवाया गया है।

इस प्रसंग में राधा का अकस्मात् प्रवेश चरमक्षण ज्ञात होता है। गोपियों ने देखा राधा आ रही है और उसकी अवस्था विलक्षण है—

"लो वह आप आ रही देखो।
'सखी', 'सखी', चिल्लाती ;"
"पर 'उद्धव, उद्धव,' की ध्वनि भी।
है यह कैसी आती ?"

गुप्त जी की राधा भी गोपियों की नाईं अन्य कवियों की राधा से भिन्न थीं। कृष्ण की अनुपस्थिति में वे केवल प्रलाप ही कर सकने में समर्थ हुईं। राधा प्रेम के चरम पर कृष्णमयी हो चुकी थीं। लोगों ने देखा—

"एक मूर्ति, आधे-में राधा,
आधे में हरि पूरे।"

आधुनिक कवियों के नवीन दृष्टिकोण के प्रतिकूल रत्नाकर जी ने 'उद्धव-शतक' की रचना की है। इसमें एक बार फिर वही चातुर्य गोपियों में हमें मिलती है जो सूर में हम देख चुके हैं। तर्क की भी वही प्रणाली दृष्टिगत होती है जो नंद की विशेषता है। और रीति-कालीन कवियों का तो विशेष प्रभाव रत्नाकर जी पर दिखलाई देता ही है। भेद केवल इतना है कि वे फुटकल कवित्त लिखते थे जिसमें क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता था और यहाँ हम प्रसंग का क्रमिक विकास पाते हैं। रीति-कालीन कवियों की भाँति अलंकारों का प्राधान्य इनमें मिलता है जिसके फलस्वरूप कुछ कवित्त तो हास्यास्पद भी हो गये हैं। उदाहरण स्वरूप वियोग की व्यथा को ज्वर मानकर उसके लिए रसप्रयोग करना कहाँ तक उचित है—

"रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।

"कह्यौ चहैं ऊधो सौं [illegible] ,
[illegible] पुनि पीन [illegible] ॥
तौ लौं अधिकाई पै उमगि कंठ आइ भिंचि ;
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि में ॥"

वे इतने विह्वल हो चुके थे, कि उन्हें अपने विचारों को प्रकट करने के लिये शब्द नहीं मिल रहे थे ।

कृष्ण को स्वयं भी प्रेम लीन जीवन पर विश्वास नहीं है और इस जीवन में उन्हें आनंद नहीं मिल रहा है । हरिऔध जी के कृष्ण भी कुछ ऐसे थे परंतु वे कर्तव्य को भूल सकने में असमर्थ थे । रत्नाकर जी के कृष्ण के हृदय में वर्तमान के प्रति विद्रोह था और वे इस प्रस्तुत भार को हटा देने की इच्छा रखते थे । उन्होंने उद्धव से कहा—

"गोपी ग्वाल-बालनि कौं झोंकि बिरहानल में ,
हरि सुर-बृंद की बलाइ करि हैं कहा ॥
प्यारौ नाम गोबिंद गुपाल कौ बिहाइ हाय ।
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करि हैं कहा ॥"

इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण अपनी भूल पर पश्चाताप कर रहे थे । वे गोपियों को छोड़कर त्रिलोक का राज्य पाकर भी संतुष्ट नहीं थे; और प्रेम ही उनका सर्वस्व था ।

कृष्ण की इन बातों का प्रभाव तीनों लोकों पर पड़ता हुआ कवि ने दिखलाया है । कवि का यह प्रयास ज्ञात होता है कि कृष्ण के विराट रूप की ओर संकेत करता है । जिस प्रकार तुलसी के राम को क्रोधित देख त्रिलोक त्रस्त हो जाता था उसी प्रकार कृष्ण की लगन ब्रज की ओर देखकर समस्त लोक दुःखी हुए । कदाचित् यह विचार कर कि जिस कार्य से कृष्ण धराधाम पर अवतरित हुए हैं वह असफल ही न रह जायें । भरत के द्वारा राम को मनाते देख इंद्र भी इसी कारण शंकित हुए थे । कवि लिखता है—

"प्रेम भरी कातरता कान्ह की प्रगट होत,
ऊधव अवाक् रहे ज्ञान-ध्यान सरके।
कहै रतनाकर धरा कौ धीर धूरि भयौ;
भूरि-भीति-भारनि फनिंद-फन करके॥
सुर सुर-राज सुद्ध-स्वारथ-सुभाव-भरे,
संसय समाए धाए धाम बिधि हरके;
ह्याँ फिरि सोच बस हाल ग्वालिनि के।
छिन छिन छाननि के छान छंग धरके॥"

इस प्रसंग के प्रारंभ में कृष्ण का जो चित्र रक्खा गया है और जैसी बातें वे करते हैं उन्हें देखते हुए यह भाव ठीक नहीं लगता, अस्वाभाविक ज्ञात होता है।

कृष्ण की बातों को सुन कर उद्धव चौंके, इसलिये नहीं कि कृष्ण मोह में लिप्त हैं, परंतु उनका राजनीतिक ज्ञान घटता है। उन्होंने कृष्ण को चेताया—

"चाल में रमे हैं ये विलासी ब्रजवासी सबै,
इनके अनोखे छल-छंदनि छकौ नहीं॥"

इतने से कार्य न बनता देख 'एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति' के सिद्धांत को सम्मुख रखते हुए कहते हैं—

"आपु ही सौं आपुको मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है॥"

दार्शनिक दृष्टिकोण से संसार को स्वप्नवत् समझते हुए कहते हैं—

"लखत असार या पसार मैं हमारी जान,
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं।
"जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं;
जैसैं सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं॥"

कृष्ण पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा जो स्वभाविक था। कृष्ण समझते थे कि ज्ञानी उद्धव ने अब तक प्रेम की पीर का अनु-

भव ही नहीं किया है और इनके इस व्याख्यान का यही कारण है। उद्धव के विशेष हठ करने पर कृष्ण कहते हैं—

"आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ॥"

अन्य किसी कवि के कृष्ण ने खुलकर उद्धव को नहीं ललकारा था, इससे रत्नाकर जी के उद्धव एवं कृष्ण के चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों ही आनंदी व्यक्ति थे और उनमें जीवन विशेष था।

हरिऔध जी की भाँति रत्नाकर जी ने मार्ग का वर्णन नहीं किया है। हां प्रकृति की प्रति-क्रिया का संकेत अवश्य मिल जाता है, साथ ही उद्धव के हृदय में प्रेम और भक्ति के नवीन अंकुर उठते दिखलाई पड़ते है। प्रकृति के मनोरम सौन्दर्य को देख उद्धव आनन्द विभोर हो गये और इसी बीच—

"ज्ञान-गठरी की गाँठि छरकिं न जान्यौ कब,
हरैं-हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डार में तमालिन की कछु विरमानी अरु;
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं ॥"

गोपियाँ धूल उड़ती देखती हैं। उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता है। पर कृष्ण को न देख वे दुःखी होकर निराश हो गईं और उनकी उत्सुकता जगी। वे विचारती हैं कि कृष्ण क्यों नहीं आये? उनकी दशा का सुन्दर वर्णन कवि ने किया है जिसमें उनके प्रेम की गंभीरता ध्वनित होती है—

"आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि,
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं ॥"

आँसू निकलना चाहते थे पर अशुभ न हो इसलिये उन्होंने रोक लिया। बहुत कुछ वे पूछना चाहती थीं पर न जाने उसका उत्तर क्या होगा इसलिये कुछ पूछने की इच्छा नहीं होती थी। चूंकि उद्धव

आये थे इसलिए समझती थीं कि कुछ समाचार प्रियतम का मिलेगा ही, इसी आशा में वे खड़ी थीं। धीरे धीरे गोपियों ने उद्धव को घेर लिया। भीड़ हो जाने के कारण उद्धव ठीक से नहीं दिखलाई देते थे, उनकी अभिलाषा तो थी कि उद्धव की एक एक बात और भाव-भंगिमायें देखती रहें और अगर कुछ प्रियतम ने लिख भेजा है तो वह पहले उन्हें ही मिले। इस दृष्टिकोण से पदावृत-मूलक वीप्सा के द्वारा उनके शारीरिक व्यापार का सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन किया गया है—

"उझकि, उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं॥
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा;
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगी॥"

उनकी वही अवस्था थी जो अब कभी परीक्षाफल को देखने के लिये उत्सुक बहुत से विद्यार्थियों की नोटिस बोर्ड के सामने होती है। आतुर उत्सुकता में मानसिक स्थितियों का सुन्दर चित्र यहाँ कार्य व्यापारों द्वारा उपस्थित किया गया है।

गोपियों को समझाते हुए उद्धव ने कहा कि तुम कृष्ण के विरह में दुःखी मत हो। यह सब मोह है और इसे ज्ञान की दृष्टि से देखने से ज्ञात होगा कि इसमें फंस कर रहना उचित नहीं है। माया और उससे उत्पन्न संसार और उसके कार्यों की ओर संकेत करते हुए उद्धव ने कहा—

"माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिनि सौं;
कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है॥

काँच के टुकड़ों के दृष्टांत के द्वारा यहाँ कवि ने अनेकत्व में एकत्व का सिद्धांत समझाया है। उन्हें गोपियाँ कैसे पा सकती हैं इसे बतलाते हुए उद्धव कहते हैं—

"जीव आतमा कौं परमात्मा मैं लीन करौ,
छीन करौ तनकौं न हीन करौ मन कौं ॥"

इस उपदेश का कोई प्रभाव गोपियों पर नहीं पड़ा। उन्होंने एक कान से इसे सुनकर दूसरे से निकाल दिया। गोपियों ने उद्धव से कहा इन बातों को जाने दो, इन उलटी बातों को हम नहीं सुनना चाहतीं। बस—

"ऊधौ कहौ सूधौ सौ सनेस पहिलैं तौ यह,
प्यारे परदेस तैं कबै धौं पग पारि हैं ॥"

यह जानने की उतकंठा विशेष रूप से उनको हुई—

"जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाहिं माहिं ;
पांसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं ॥"

ये अपने प्रियतम के स्वभाव से परिचित थीं और जानती थीं कि वे अपनी पुरानी आदतों को किसी भी परिस्थिति में नहीं भूल सकते। इससे हमें जान पड़ता है कि गोपियों को अपने और अपने प्रियतम पर कितना विश्वास था।

पहले जो भी गोपियाँ कहती हैं उसमें उनका प्रेम ही झलकता है। पर ज्यों ज्यों बातें बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार वे भी गंभीर होती जाती हैं। फिर उद्धव के तर्क का खंडन करते हुए उन्होंने कहा—

"साँची हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौ हूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की ॥"

क्योंकि—

"जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की ;
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥"

[illegible] में वे अपना अस्तित्व यदि खो देंगी तो उन्हें आनन्द का अनुभव ही क्या होगा ! अद्वैतवादियों की भाँति वे अपने अस्तित्व को नहीं खोना चाहतीं। वे तो सामीप्य ही चाहेंगी। गोपियों ने यहाँ अपने [illegible] विशेष [illegible] को [illegible] कर ही यह उक्ति कही है। [illegible] कि हम कृष्ण के समीप हैं। इस

जान तो पड़ता है कि गोपियाँ दैन्यभाव से कह रही हैं कि एक मनमोहन ने हमको कहीं का न छोड़ा और अब मन रूपी मुकुर के टूट जाने से जब बहुत से मनमोहन बस जायेंगे तो क्या होगा ? लेकिन हमारी समझ से इससे यह भी ध्वनित होता है कि एक मनमोहन के यहाँ रहने से तो हम इस प्रकार अपने निश्चय में दृढ़ हैं और जब उनकी संख्या बढ़ जायगी तब तो हम तुम्हारी बात कुछ सुन भी नहीं सकतीं। यह देखा गया है कि कोई विचार बदल सकता है और कुछ समय में बदल भी जाता है, पर बहस छिड़ जाने पर जब लोग हठ करते हैं तब अंध-विश्वासी हो जाते हैं और किसी भी प्रकार अपने विचार को बदलना नहीं चाहते। इसी सत्य की ओर "विधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए' में सूरदास जी ने भी संकेत किया है। इसमें तो सन्देह नहीं कि रत्नाकर जी कि यह उक्ति अन्यत्र नहीं मिलती।

निर्गुण का टेढ़ा रास्ता इन्हें पसन्द नहीं था। मुक्ति की भी इच्छा इनके हृदय में नहीं थी। वे जीवन चाहती थीं। उद्धव ने निर्गुण ब्रह्म के समर्थन में जो तर्क रक्खे थे वे भी इन्हें आकर्षित करने में असमर्थ सिद्ध हुए—

"हम परतन्त्र मैं प्रभाव अनुमानैं नाहिं,
तुम भल भौंरे मैं भलैं ही बहियौ करैं ॥"

और यही [illegible] मार्ग आया है। उद्धव के गर्व का खंडन करती हुई [illegible] हैं—

"रहै रत्नाकर जारी हैं विरहानल में,
और [illegible] नाहिं है [illegible] ॥"

[illegible] की ओर यह संकेत है।

[illegible] के आधार पर कृष्ण निर्गुण ब्रह्म नहीं माने जा सकते और [illegible] नहीं हो सकते। हम अपने स्वार्थ को [illegible] इस प्रकार रक्खा—

यहाँ ईर्ष्या की भावना तो नहीं है, पर कुब्जा को निशाने के लिए वे कृष्ण को उपालंभ देती हुई कहती हैं—

"सुनी गुनी समझी तिहारी चतुराई जिती,
कान्ह की पढ़ाई कविताई कुबरी की है ॥"

परन्तु इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है, वास्तव में कृष्ण के प्रति उनका अविश्वास ही है इसे वे व्यक्त करती हैं—

"वे तौ हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ,
हम उनही की उनही की उनही की हैं ॥"

पदावृत्तमूलक वीप्सा के द्वारा कवि ने यहाँ विशेष चमत्कार ला दिया है, अलंकार यहां भाव का सहायक होकर आया है।

प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण भिन्न होते हैं। विशेष परिस्थिति में विशेष दृष्टिकोण से देखने से कभी-कभी विचारों में आमूल परिवर्तन हो जाता है। उद्धव के विचार भी बदल जाते यदि उनमें कृष्ण के प्रति प्रेम होता—

"ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते न नैंकु,
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियान तैं ॥"

उनकी भक्ति और उनका प्रेम कृष्ण के प्रति कितना है यह उनकी गर्वोक्ति से विदित होता है—

"यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त्य जियौ,
ऊधौ यह गोपिन के प्रेम कौ प्रवाह है ॥"

उद्धव कितने निर्बल थे इसका अनुमान इतने से ही लगाया जा सकता है। उद्धव की विचित्र दशा को देखकर वे चुप नहीं रह सकीं, वे हसती हुई सव्यंग पूछती हैं कि तुम किस लाभ से आये हो, अरे?

"वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग।
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं ॥"

परन्तु यह विनोद अधिक काल तक नहीं टिक सका वे रो उठीं यह सोच कर—

वर्णन कर सकेंगे। इसलिये उन्होंने केवल दिखलाकर समझा देने की सलाह दी—

"आह कै, कराहि, नैन नीर अवगाहि, कछु,
कहिवे कौं चाहि, हिचकी लै, रहि जाइयौ॥"

संदेश कहलाने का यह अभिनयात्मक ढंग रत्नाकर जी की मौलिकता है। परंपरागत प्रसंग में इस प्रकार कवि ने जीवन डाल दिया है। उद्धव सगुण मार्गीय प्रेम-भक्तों से अत्यधिक प्रभावित हो चुके थे इसका अनुभव गोपियों को हो गया। अब उन्हें भ्रम था कि कहीं यहां वालों का हाल वे कह न दें जिसे सुन कृष्ण अत्यधिक दुःखी न हो जायें। इसे वे सहन नहीं कर सकतीं, इसलिये उद्धव से सविनय कहती हैं—

"नंद जसुदा औ गाय गोप गोपिका की कछु,
बात वृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ।
कहैं रतनाकर कहति सब हाहा खाइ;
ह्यां के परपंचनि सौं रंच न पतीजियौ॥
आँस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वै है हाय,
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।
नाम कौ बताइ औ जताइ ग्राम ऊधौ बस;
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ॥"

"राम-राम कहि दीजियौ" के साथ गोपियों का हृदय निकलता जान पड़ता है। साथ ही ध्वनित होता है कि वे कृष्ण के कितने समीप थीं...। रत्नाकर जी की गोपियों के मानसिक स्थिति का अध्यन करने से ज्ञात होता है कि वे भोली भाली सरल हृदया थीं, पहले की बातों से भी यही ज्ञात होता है। बीच में वे गंभीर हो जाती हैं परंतु अंत में फिर से उनका वास्तविक रूप ही हमारे सामने आता है। कृष्ण से वे प्रार्थना करती हैं—

"भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं,
जो कहौ सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं॥"

इसमें गोपियों के आत्मसमर्पण की भावना कृष्ण के प्रति विशेष रूप से लक्षित होती है। ज्ञानी उद्धव इस दुखांत नाटक को देखकर अपने को न सम्हाल सके और उनकी दशा विचित्र हो गई। लोगों ने देखा—

"सूखे से स्रमे से सकपके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिय में हाय;
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥"

अनुभावों का इतना सुन्दर एकीकरण अन्यत्र नहीं मिलता। उद्धव की बिदाई का दृश्य तो और भी हृदयद्रावक है—

"धाई जित-तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की,
गोपी भरीं आरती सँम्हारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पुच्छ कोऊ लिए;
कोउ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी।
भाव-भरी कोउ लिए रुचिर सजाय दही,
कोऊ मही मंजु छवि छलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद-जसुमति नवनीत नयौ;
कीरति कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥"

रत्नाकर जी की सब से बड़ी सफलता नंद, यशोदा और राधा को दूर रखने में हुई है। न उनमें धैर्य था कि वे उद्धव की बातें सुन सकें और न उद्धव में साहस था कि उनसे कुछ कह सकें। उनकी तुच्छ पर अमूल्य भेंट और मूक निवेदन हमारे हृदय को विचलित कर देता है और बुद्धि सोचने का प्रयत्न करती है कि वे संदेस भिजवाते भी तो क्या?

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं रीतिकालीन कवियों का भी प्रभाव रत्नाकर जी पर पड़ा है जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसे भी कवित्त मिलते हैं जो अतिशयोक्ति पूर्ण एवं हास्यास्पद हैं, उदाहरण स्वरूप—

"सूखि जाति स्याही लेखिनी में नैकु डंक लागे,
अंक लागें कागद बररि बरिजात है ॥"

या—

"गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ।
दगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे ह्वै ॥"

संतोष की बात है कि ऐसे कवित्त कम हैं।

उद्धव कृष्ण के पास लौट जाते हैं, उनको कहना तो इतना ही था कि—

"होतो चित चाव जो न रावरे चितावन को।
तजि ब्रज गाँव इतै पाँव धरते नहीं ॥"

भ्रमर का प्रवेश यहाँ नहीं मिलता, रत्नाकर जी की गोपियों में सूर की गोपियों का हृदय, नंद की गोपियों की बुद्धि, और आधुनिक युग की नारियों के चापल्य का मिश्रण हम पाते हैं। रत्नाकर जी का 'उद्धव-शतक' विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें उक्त तीन प्रवृत्तियों का मिलन एक ही विन्दु पर हुआ है।

आधुनिक-युग में ब्रज-भाषा-काव्य की धारा चली आ रही है। हम देख चुके हैं कि 'रत्नाकर' ने ब्रज-भाषा को नवीन शक्ति और नवीन प्राण देने का प्रयास किया है। भाषा की दृष्टि से उन्होंने ब्रज-मंडल की वर्तमान भाषा के रूप को अपनाया है; और साथ ही वर्णन में मूलतः रीति-कालीन होते हुए भी बहुत-कुछ अपना नवीन योग भी किया है। भ्रमरगीत के प्रसंग को भी 'रत्नाकर' ने खंड-काव्य के रूप में मौलिक ढंग से सजाया है। परन्तु उसकी मूल-प्रवृत्ति रीति-कालीन अलंकार-शैली है। 'रत्नाकर' ने गोपियों को तार्किक के रूप में उपस्थित किया है। वे उद्धव के ज्ञान का खंडन करती हैं और प्रेम का प्रतिपादन भी करती हैं। परंतु यह सब होते हुए भी, हम देख चुके हैं कि गोपियाँ भावावेश में ही बात करती हैं। उनके समस्त तर्क और अलंकार-चातुर्य्य के पीछे उनका आकुल हृदय छिपा हुआ है। लेकिन

[illegible] है। [illegible]

[illegible] —

"[illegible],
[illegible] दिखाती है।
[illegible],
[illegible] बनाती है।
[illegible],
[illegible] बनाती है।
[illegible],
[illegible] दिखाती है।।"

[illegible] की [illegible] के साथ [illegible] है—

"[illegible],
[illegible] जाती है।
[illegible],
[illegible] जाती है।

सिंचित सुनेह की सुधा सों बसुधा 'रसाल'
ऊधव कँहू न रंच रज को पसारो है।
कैसे तौ तिहारो दुखवारो यहै ग्यान-पंथ
ऐसो सुखवारो प्रेम-पंथ जो हमारो है।"

इस प्रकार के तर्कों में गोपियों की मानसिक स्थिति उद्वेगहीन सी लगती है; जैसे उनके हृदय में किसी प्रकार की उमड़न नहीं है न और आवेग है। वे जो कुछ कर रही हैं, वह उनकी बुद्धि के द्वारा प्रतिपादित और तर्कों से स्थापित है। भासमान् सत्ता को माया मानने वाले अद्वैतवाद के विरोध में गोपियाँ तर्क उपस्थित करती हुई कहती हैं—

"मग न दिखात सूधो, मगन दिखात ऊधो,
मगन दिखात कीन्हें आप ही में आप को।
मानौ औ प्रमानौ और जानौ अनुमानौ और,
औरई बखानौ, ना ठिकानौं कछु आप कौ॥
ब्रह्म सबै जौ पै तौ बतावो भेद-भाव कैसो,
कैसे हमें गोपी लखौ, ऊधौ आप आप कौ।
बोधौ आप स्याम कौं, प्रबोधौ किधौं गोपिन कौं,
ब्रह्म कौ प्रबोधौ, कै प्रबोधौ आप आप कौ।"

उनका कहना है कि यह प्रमाण और अनुमान का भेद कैसे स्वीकार किया जा सकता है; और यदि पारमार्थिक दृष्टि-कोण से सब आत्माएँ ब्रह्म ही हैं तो उद्धव ही क्यों गोपी और अपने में भेद मानकर चल रहे हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन में गोपियाँ केवल तर्क और अलंकार-वैचित्र्य का आश्रय लेती हैं और यहाँ गोपियों का चरित्र बहुत ही संस्कृत स्त्रियों के रूप में आता है। वे अपने समस्त भावों को छिपाकर केवल सिद्धांत की बात कर रही हैं।

डा० 'रसाल' की गोपियाँ वाक्-चतुरा हैं; और इस प्रेरणा का आधार हमको 'रत्नाकर' ही में मिलता है। परंतु जैसा कहा गया है, ये गोपियाँ अपनी उक्तियों में बिलकुल संयत हैं और व्यंगों में अत्यंत

[illegible] है । [illegible] है । [illegible] की [illegible] है—

"[illegible],
[illegible] है ।
[illegible],
[illegible] है ।
[illegible],
[illegible] है ।
[illegible],
[illegible] है ।"

[illegible] है । [illegible] है—

"[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥"

[illegible] है । [illegible] है, [illegible]

बातों के करने का प्रस्ताव भी करती हैं, और गोपियों का यह प्रस्ताव उनकी संयत भाव-स्थिति की ओर सुन्दर व्यंजना के साथ संकेत करता है। गोपियाँ तर्क से जैसे थक सी जाकर कहती हैं—

"यह औसर स्याम-कथा कौ भलौ,
सो गयौ रसना की रला-रली मैं।
कहिबै, सुनिबै की रही सो रही,
बस बातन की ही बलाबली मैं॥
मन-मीन मलीन मरे से परे,
यहि ज्ञान की कोरी दलादली मैं।
मन-भावती हू कहि जाते कछू,
अब ऊधव ऐसी चलाचली मैं॥"

गोपियों की इस भाव-स्थिति के रूप में ऐसा लगता है, मानो स्वयमेव कवि अनुभव कर रहा है कि उसकी समस्त तर्कना और अलंकार-योजना में गोपियों की भावना मौन ही सी रही है। एक स्थान पर गोपियाँ कृष्ण से अपने अविच्छिन्न-संबंध की ओर संकेत कर कहती हैं—

"ऊधौ जाइ जो पै उत कान्ह कूबरी के भये,
चिंता चित तौ न कछू कीरति-कुमारी कै।
नूपर ह्वै ताके परे पायनि रहैं वे नित,
सोऊ रहै माल ह्वै गरैं परी मुरारी कै॥
दोऊ एक देह, एक प्रान ह्वै 'रसाल' रहैं,
तौहू बाजिहैं न स्याम दासिका-दुलारी कै।
राधा-नाम ही के अनुगामी बने रहैं नित,
नामी नाम जेवे ब्रज-विपिन-विहारी कै॥"

इस प्रकार की कृष्ण के प्रति गोपियों की अभिन्न भावना पिछले अनेक कवियों ने वर्णित की है, परन्तु इस वर्णन में अर्थ-वैचित्र्य अधिक आकर्षक है, भाव की तन्मयता उतनी नहीं है। डा० 'रसाल' की गोपियाँ कृष्ण के प्रति कोई विशेष संदेश और पत्र भी नहीं भेजतीं।

सिद्धान्त और तर्क दोनों को सहायता मिली है। इनके अतिरिक्त मुद्रा अलंकार का प्रयोग भी ज्योतिष, वैद्यक आदि के आधार पर किया गया है।

श्रीमद्भागवत से भ्रमरगीत की जो परंपरा प्रारंभ हुई थी, हम देखते हैं इस प्रकार साहित्य के विभिन्न युगों में अक्षुण रूप से चली आ रही है। युग की काव्य-गत प्रवृतियों और भावनाओं के अनुसार भ्रमरगीत की भावधारा भी परिवर्तित और प्रभावित होती रही है। परन्तु इस काव्य-रूप में गोपी-हृदय की जो वेदना उपालंभ के रूप में अभिव्यक्त हुई है उसके आकर्षण को किसी भी युग का कवि नहीं छोड़ सका है। और यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग तक भ्रमरगीत की काव्यधारा प्रवाहित रही है।

नाथ-संप्रदाय और तंत्र-शास्त्र

नाथ-संप्रदाय तंत्र शास्त्र से ही विकसित हुआ है। इसकी उपासना पद्धति एवं सिद्धांत बीज रूप से तंत्र-शास्त्र में विद्यमान हैं। यही वह आधार स्थल है जिसके ऊपर हिंदी-साहित्य की नींव पड़ी है। ऐतिहासिक दृष्टि से अगर हम इसका अध्ययन करें, तो देखेंगे कि इसकी ही परंपरा में संत साहित्य का निर्माण हुआ है। डा० बड़थ्वाल के शब्दों में "नाथ योगियों की बानियां हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।"

राहुल सांकृत्यायन ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए एक निबंध में लिखा है कि "कबीर का संबंध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है......। भोटिया साहित्य की सहायता से हम सिद्धों की धारा को १२ वीं० श० तक ला सकते हैं। लेकिन बाद की कबीर तक की तीन शताब्दियों को भरना असंभव सा ही मालूम होता है।" पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपने इतिहास में इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "किंतु मैं समझता हूँ कि यह आसान है यदि सिद्धों के साथ नाथ संप्रदायवालों को भी सम्मिलित कर लिया जाय।" इसमें संदेह नहीं कि यह एक परंपरा थी जो अबाध गति से प्राचीन काल से चलती आई है और इसने हमारे साहित्य की एक प्रमुख धारा को प्रभावित किया है।

विद्वानों ने नाथ-पंथ का मूल बौद्धों की वज्रयान शाखा को माना है जिसमें 'महासुह' वह दशा बतलाई गई है जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक-पानी में। इसका प्रतीक स्त्री-पुरुष का आलिंगन बद्ध जोड़ा है। परंतु इस प्रकार के रूपक हमें सिद्ध साहित्य में भी मिलते हैं, उदाहरण स्वरूप—

"जिमि लोण बिलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित्त।"

नाथ-पंथ के योगियों की रचनाओं में जो तंत्रिक विधान, योग साधना,

तमुखी साधना, भीतरी चक्र इत्यादि आये हैं उनका संबंध स्पष्ट रूप हमें तंत्र-शास्त्र में मिलता है। नाथ-पंथ के योगियों की उपासना धि क्या है? उनके सिद्धांत क्या हैं? इसे समझने के पूर्व तंत्र-शास्त्र इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है क्यों कि इनका धा संबंध तंत्रों से ही है।

प्रत्येक युग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हमारे धर्मा-ार्यों ने भिन्न-भिन्न शास्त्रों का निर्माण किया है। सतयुग के लिये द, त्रेता के लिए स्मृति, द्वापर के लिए पुराण और कलियुग के लिए ागम या तंत्र शास्त्र की व्यवस्था दी गई है। आगमों के सिद्धांतों का ूल रूप हम वेदों में पाते हैं। वैदिक कर्मकांड करने की शक्ति अब ानुष्यों में नहीं रह गई थी और इसी कमी को पूर्ण करने के लिये तंत्र ं अपने साधन उपस्थित किये।

जीवात्मा को मुक्ति नहीं मिल सकती जब तक वह अपने तृष्णाओं का परित्याग न कर दे। संसार द्वन्द्व है। वे संसार को ही ब्रह्म मानते हैं, जिसका रूप है सच्चिदानंद। शाक्त-धर्म अद्वैत का एक रूप है, जिसमें उपासना के द्वारा साधक अपने मन को शुद्ध करता है। तंत्र स्वतः सिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—साधना, सिद्धि और दर्शन। पतंजली के योग को इन्होंने व्यवहारिक रूप दिया है।

कुंडलिनी-शक्ति को जाग्रित करने से योग की प्राप्ति होती है। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में रहती है। शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् उसकी स्थिति का अनुभव होता है। इसका रूप सोये हुए सर्प की भांति है। कुंडलिनी शब्द ब्रह्म है। तांत्रिकों ने अपने साधन को छः चक्र और सहस्रार के द्वारा स्पष्ट किया है। इस योग को तंत्र कहते हैं।

पर इनका यह मौलिक सिद्धांत नहीं था, हम देखते हैं कि योग उपनिषदों और कुछ पुराणों में भी इन चक्रों का वर्णन आता है। इस प्रकार के योग का संबंध विशेषतः तंत्रों या आगमों से स्थापित किया जाता

है। चैतन्य का निवास स्थान हृदय है। मूलकेन्द्र चक्र और सहस्रार है। प्राण रूप में जीवात्मा का वास हृदय में बतलाया गया है। चरक भी हृदय को ही बीज मानते हैं, जहाँ से शरीर के अन्य अंग उत्पन्न हुए हैं। सुश्रुत ने भी हृदय को ही भावनाओं का केन्द्र माना है।

सर्व प्रथम भूतशुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बिना इसके देव पूजन नहीं किया जा सकता और न साधक इस मार्ग पर चलने का अधिकारी ही होता है। इसका संबंध केवल मस्तिष्क से है। साधक इसके बाद अपने इष्ट देवता का आवाहन शरीर के विभिन्न अंगों में करता है।

चैतन्य की चार अवस्थायें मानी गई हैं। जाग्रत अवस्था में हृदय का विस्तार बतलाया गया है, और सुप्तावस्था में वह सिकुड़ता है। स्वप्नावस्था में बाह्य वृत्तियाँ अंतर्मुखी होने लगती हैं जिसका चरम सुषुप्तावस्था है। शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं। प्राण सुषुम्ना से होता हुआ ब्रह्मरंध्र को जाता है। ज्ञान से मुक्ति मिलती है जिसे शैव अस्पदक ब्रह्म कहता है।

तंत्र में छः चक्रों का वर्णन भी मिलता है। मूलाधार से वायु अर्थात् कुंडलिनी को जाग्रत करने की क्रियायें उपनिषदों में मिलती हैं। अष्टदल कमल में जीव का वास बताया गया है जहाँ कि इष्ट देवता की पूजा की जाती है। उसकी आठ पंखुड़ियों से वृत्तियों का संबंध स्थापित किया गया है। पूर्वीय (Eastern) पंखुड़ी के साथ पुन्यमती; दक्षिण-पूर्वीय (South eastern) से निद्रा और आलस्य, दक्षिण (Southern) से क्रूरमती; दक्षिण-पश्चमीय (South western) से पाप मेधा; पश्चमी (Western) से दुर्गुण; उत्तर-पश्चमीय (North Western) से विचार; दक्षिणी (Northern) से रति और प्रीति; उत्तर-पूर्वीय (North Eastern) से द्रव्य ग्रहण का संबंध है। इस कमल के मध्य में वैराग्य का स्थान है। इसमें दस प्रकार के नादों का भी उल्लेख मिलता है, जिसका प्रभाव शरीर पर होता है,

जैसे स्वेद, कंप इत्यादि के रूप में। दशवें नाद को साधने से ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क को "दसवाँ द्वार" कहा गया है—आँख, कान, नाक इत्यादि अन्य द्वार हैं।

उपनिषद् के अनुसार पूरक का ध्यान महावीर में करना चाहिए जिसके चार हाथ होते हैं (विष्णु), कुंभक का ध्यान हृदय में, रेचक का ललाट में जहाँ कि रुद्र की मूर्ति है। आत्मा कमल (Lotus) को जाग्रित करती है और बीज को ले चन्द्र अग्नि और सूर्य में प्रवेश करती है।

अमृतानंद उपनिषद में पंचतत्व (five elements) जिसके ऊपर अर्द्ध मात्रा है का भी उल्लेख मिलता है।

खुरिका (Kshurika) उपनिषद में ईडा पिंगला और सुषमनाके साथ ७२००० नाड़ियोंका वर्णन है। ध्यान-योग की व्यवस्था दी गई है। प्राणवायु को Quoene नाड़ी (श्वेत) से पूरक रेचक और कुंभक के द्वारा हठयोग के साधनों की सहायता से ले जाने की प्रणाली बताई गई है।

योगतत्व उपनिपद और योगसिखा उपनिपद में भी हठयोग का वर्णन आया है। योगसिखा के अनुसार कुंडलिनी ब्रह्मरंध्र में सूर्य को चीरते हुए जाती है।

रामतापनी उपनिषद में योग और तंत्रों के वर्णन आये हैं। आसन्, द्वारपूजा, पीठपूजा, भूत-शुद्धि इत्यादि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किय गया है।

देवी भागवत में भी छ चक्रों का उल्लेख मिलता है। मूलाधार में कुंडलिनी के साथ जीव को हंस-मंत्र के द्वारा मिलाने का उपाय बतलाया गया है।

लिंग पुराण और अग्नि पुराण में भी इसका वर्णन मिलता है।

गीता के भाष्य में शंकर ने बतलाया है कि पहले अनाहद को वश में करके साधक मूलाधार इत्यादि को जीत कर सुषुमना की ओर जाता है। वह प्राण को दोनों भवों के बीच में रख कर पुरुष की ज्योति

का दर्शन करता है।

योग-शास्त्र के अनुसार अमृत प्रत्येक व्यक्ति के सिर में रहता है, कुंडलिनी जब वहां पहुँच जाती है तब योगी ईश्वर रूप हो जाता है।

शिव-पुराण में भी छ चक्रों का वर्णन मिलता है, पर यह कह दिया गया है कि यथार्थतः उनकी स्थिति नहीं है, वहाँ साधनों का भी वर्णन नहीं मिलता। यह पुराण, बाह्य साधना को अन्तर्मुखी कर देता है।

तंत्र और पुराणों के वर्णन में भेद यह है कि पुराणों ने चक्रों का वर्णन सीधे साधे ढंग से किया है परन्तु तंत्रों ने इसको रहस्यात्मक रूप-रेखा प्रदान की है।

वस्तुतः कर्म और ज्ञान के योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति-मार्गीय साधक भी इस सिद्धांत को मानते हैं। अपने इष्टदेव के ऊपर पुष्प इत्यादि चढ़ाना ही कर्म है और भक्ति ही एक प्रकार की समाधि है। वे तप और ध्यान को आवश्यक समझते हैं जो कर्म-योग और ज्ञानयोग के अन्तर्गत आता है। आसन और प्राणा-याम की आवश्यकता का अनुभव वे भी करते हैं। इसका उद्देश्य शरीर की शुद्धि है, केवल हठयोग के साधनों से ही उस आनन्द की प्राप्ति नहीं होती इसे तंत्र भी मानता है और नाथ-पंथ वाले भी मानते हैं। आनन्द जिसका उद्देश्य केवल आनन्द मात्र है मोक्ष नहीं है। हठयोग के साधनों के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के शारीरिक आनन्द प्राप्त किये जा सकते हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि में यह आनन्द नहीं है। इसमें ज्ञान का योग आवश्यक बतलाया गया है। जीव सांसारिक और दैविक दोनों है, जो चैतन्य है और जिसका निवास शब्द में माना गया है। देवी स्वयं शुद्ध सत्व हैं। चैतन्य के पांच रूप होते हैं—सत्व, अति सत्व, परम सत्व, शुद्ध सत्व और विशुद्ध सत्व। उन सब केन्द्रों पर ध्यान स्थित किया जाता है जहां वह रहते हैं।

लय योग में भी कर्म और ज्ञान के मिश्रण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसमें ॐ पर साधक का ध्यान रहता है। साधक अपने और ब्रह्म में

जैसे स्वेद, कंप इत्यादि के रूप में। दशवें नाद को साधने से ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क को "दसवाँ द्वार" कहा गया है— आँख, कान, नाक इत्यादि अन्य द्वार हैं।

उपनिषद् के अनुसार पूरक का ध्यान महावीर में करना चाहिए जिसके चार हाथ होते हैं (विष्णु), कुंभक का ध्यान हृदय में, रेचक का ललाट में जहाँ कि रुद्र की मूर्ति है। आत्मा कमल (Lotus) को जाग्रित करती है और बीज को ले चन्द्र अग्नि और सूर्य में प्रवेश करती है।

अमृतानंद उपनिषद में पंचतत्व (five elements) जिसके ऊपर अर्द्ध मात्रा है का भी उल्लेख मिलता है।

खुरिका (Kshurika) उपनिषद में ईडा पिंगला और सुषमना के साथ ७२००० नाड़ियों का वर्णन है। ध्यान-योग की व्यवस्था दी गई है। प्राणवायु को Quoene नाड़ी (श्वेत) से पूरक रेचक और कुंभक के द्वारा हठयोग के साधनों की सहायता से ले जाने की प्रणाली बताई गई है।

योगतत्व उपनिषद और योगसिखा उपनिषद में भी हठयोग का वर्णन आया है। योगसिखा के अनुसार कुंडलिनी ब्रह्मरंध्र में सूर्य को चीरते हुए जाती है।

रामतापनी उपनिषद में योग और तंत्रों के वर्णन आये हैं। आसन्, द्वारपूजा, पीठपूजा, भूत-शुद्धि इत्यादि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किय गया है।

देवी भागवत में भी छ चक्रों का उल्लेख मिलता है। मूलाधार में कुंडलिनी के साथ जीव को हंस-मंत्र के द्वारा मिलाने का उपाय बतलाया गया है।

लिंग पुराण और अग्नि पुराण में भी इसका वर्णन मिलता है।

गीता के भाष्य में शंकर ने बतलाया है कि पहले अनाहद को वश में करके साधक मूलाधार इत्यादि को जीत कर सुषुमना की ओर जाता है। वह प्राण को दोनों भवों के बीच में रख कर पुरुष की ज्योति

का दर्शन करता है।

योग-शास्त्र के अनुसार अमृत प्रत्येक व्यक्ति के सिर में रहता है, कुंडलिनी जब वहां पहुँच जाती है तब योगी ईश्वर रूप हो जाता है।

शिव-पुराण में भी छ चक्रों का वर्णन मिलता है, पर यह कह दिया गया है कि यथार्थतः उनकी स्थिति नहीं है, वहाँ साधनों का भी वर्णन नहीं मिलता। यह पुराण, बाह्य साधना को अन्तर्मुखी कर देता है।

तंत्र और पुराणों के वर्णन में भेद यह है कि पुराणों ने चक्रों का वर्णन सीधे साधे ढंग से किया है परन्तु तंत्रों ने इसको रहस्यात्मक रूप-रेखा प्रदान की है।

वस्तुतः कर्म और ज्ञान के योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति-मार्गीय साधक भी इस सिद्धांत को मानते हैं। अपने इष्टदेव के ऊपर पुष्प इत्यादि चढ़ाना ही कर्म है और भक्ति ही एक प्रकार की समाधि है। वे तप और ध्यान को आवश्यक समझते हैं जो कर्म-योग और ज्ञानयोग के अन्तर्गत आता है। आसन और प्राणा-याम की आवश्यकता का अनुभव वे भी करते हैं। इसका उद्देश्य शरीर की शुद्धि है, केवल हठयोग के साधनों से ही उस आनन्द की प्राप्ति नहीं होती इसे तंत्र भी मानता है और नाथ-पंथ वाले भी मानते हैं। आनन्द जिसका उद्देश्य केवल आनन्द मात्र है मोक्ष नहीं है। हठयोग के साधनों के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के शारीरिक आनन्द प्राप्त किये जा सकते हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि में यह आनन्द नहीं है। इसमें ज्ञान का योग आवश्यक बतलाया गया है। जीव सांसारिक और दैविक दोनों है, जो चैतन्य है और जिसका निवास शब्द में माना गया है। देवी स्वयं शुद्ध सत्व हैं। चैतन्य के पांच रूप होते हैं—सत्व, अति सत्व, परम सत्व, शुद्ध सत्व और विशुद्ध सत्व। उन सब केन्द्रों पर ध्यान स्थित किया जाता है जहां वह रहते हैं।

लय योग में भी कर्म और ज्ञान के मिश्रण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसमें ऊँ पर साधक का ध्यान रहता है। साधक अपने और ब्रह्म में

कोई भेद नहीं देखता दोनों एक हो जाते हैं जिसे हम अद्वैतभाव कहते हैं। उनमुनी अवस्था में वह परम शिव का अनुभव करता है। वह देखता है ब्रह्म एक है। रुद्र, शिव, परम शिव इत्यादि उस एक के भिन्न रूप हैं। जब वह यह कहता है कि अमुक चक्र में अमुक देवता हैं तो उसका यह अर्थ होता है कि उस समय ब्रह्म वहां पर है। देवता बदलते रहते हैं। सहस्र में सब देवताओं का वास है। मृत्यु के समय यहीं साधक अपने प्राण को रखता है। यहीं पर कुंडलिनी और जीव का बिंदु से मिलन होता है जो कि शिव और शक्ति है। इस मिलन के बाद योगी ब्रह्म रंध्र को फोड़कर ब्रह्म में मिल जाता है।

शून्य में ही मोक्ष है। परम शिव में दो प्रकार के आनन्द होते हैं, रस (मोक्ष का आनन्द) और विरस (आनन्द जिसकी उत्पत्ति शिव और शक्ति के एकाकार से होती है) जब दोनों एक हो जाते हैं तो अमृत शरीर में व्याप्त हो जाता है साधक जीवन मुक्त हो जाता है और वह तभी तक शरीर में रहता है जब तक उसे कर्म करना पड़ता है। भगवती निर्वाण कला ईश्वरीय ज्ञान प्रदान करती है जिससे मोक्ष मिलता है जो कि तत्त्व-जन्य है। ज्ञान क्रियाजन्य और स्वरूप जन्य है। जब कुंडलिनी शिव से मिलती है तो वह ज्ञान उत्पन्न होता है।

शिव से मिलकर कुंडलिनी लौट आती है फिर योगी के आज्ञानुसार ऊपर जाती है और फिर कभी वापिस नहीं आती, साधक जीवन मुक्त हो जाता है। ऊपर जाने के क्रिया को लयकर्म कहते हैं और [illegible] से लौटने को सृष्टि कर्म कहते हैं।

[illegible] के अधिकारी सब नहीं हो सकते, इसके अधिकारी वे ही हैं जो दम [illegible]न्द्रिय, [illegible] क्रियाविनिर्मुक्त, सर्व प्रनहितरत, सुचि, आस्तिक, [illegible] और [illegible] हैं।

[illegible] अन्नमय कोष, प्राणमय कोष और मनोमय कोष है।

[illegible] के अनुसार ये चक्र भिन्न भिन्न रूप में आनन्द-[illegible]। [illegible] और [illegible] शक्ति के केन्द्र हैं। नीचे के पांच

चक्र स्थूल (Gross) तत्व की शक्ति के केन्द्र हैं जिससे महाभूत की उत्पत्ति होती है। छठवाँ चक्र सूक्ष्म मानसिक तत्व का केन्द्र है।

पूरी सिद्धि तब तक नहीं मिलती जब तक रहस्य का ज्ञान नहीं हो जाता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तंत्र का मूल वेद और उपनिषद् है इसमें केवल उनके सिद्धांतों और क्रियाओं का विकास हुआ है। बाद में आवश्यकतानुसार इसमें भी परिवर्तन होते गए और फलस्वरूप भिन्न भिन्न संप्रदायों की वृद्धि हुई।

सिद्धांत

तंत्र पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानता है। समाज, धर्म, जाति व्यवस्था इत्यादि भी मान्य है। पर साधना के क्षेत्र में जाति के लिये कोई स्थान नहीं। वे अपने मत का प्रचार केवल तर्क के द्वारा ही नहीं उपस्थित करते थे वरन् अनुभूति का विषय बतलाते थे।

शाक्त-तंत्र अद्वैत का साधना शास्त्र है। वेद और तंत्र दोनों ईश्वर को सच्चिदानन्द मानते हैं। ईश्वर रूप में वह सर्वजन्य विश्वात्मा है। परमात्मा और जीवात्मा एक हैं। वेदांत के सोऽहम ब्रह्मास्मि को भी तांत्रिक मानते हैं।

साधना क्षेत्र में अद्वैत वेदांत ही इनकी नित्य क्रिया है। ब्रह्म मुहूर्त में साधक ध्यान करता है कि हम देवी हैं, हम ब्रह्म हैं, हम सच्चिदानन्द के रूप हैं।

मध्यान काल में साधक पूजासन में बैठ भूत शुद्धि करता हुआ ध्यान करता है और तत्व परमात्मा में अपने अस्तित्व को खो देता है। वह जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं देखते हुए सोहम् का अनुभव करता है।

सायंकाल में वह अपने को अखिल आत्मा और सच्चिदानन्द के रूप में देखता है। इनको छ दर्शन मान्य हैं। मिमांसा के शब्द सिद्धांत को भी कुछ परिवर्तन के साथ वे मानते हैं।

उपासना-क्षेत्र में भी हिन्दुओं के सर्वमान्य सिद्धांतों को वे मानते हैं, जैसे-मंत्र, यंत्र, प्रतिमा, लिंग, सालिग्राम होम इत्यादि। तांत्रिक मंत्र को ठीक नहीं बताते। उनके अनुसार विचार स्वयं एक शक्ति है और अगर विचार को सुचारू रूप से चलाया जाय तो उससे दूसरों के विचारों पर प्रभाव डाला जा सकता है।

मदिरा और मांस के द्वारा उपासना वैदिक क्रियाओं का एक अंग रहा है और वैदिक यज्ञों में इसका प्रयोग होता था। मैथुन की भी व्यवस्था उन लोगों ने दी है। इसे धार्मिक उपासना का एक अंग माना गया है। इसे भी तांत्रिकों ने ग्रहण किया है। वैदिकों की भाँति तांत्रिक ॐ को बीज मानते थे।

महानिर्वाण तंत्र ने दो आश्रमों की व्यवस्था कलियुग में की—गृहस्थ और सन्यास। वे गृहस्त आश्रम को आदर की दृष्टि से देखते हैं। पर वे सन्यास लेने के अधिकारी नहीं जो विवाहित हैं, परिवारी हैं। जिस प्रकार छोटे छोटे जानवरों के पैर की छाप हाथी के पैर की छाप में अपना अस्तित्व खो देती हैं उसी प्रकार सब धर्म कुलधर्म में समा जाते हैं।

इस प्रकार ये अद्वैतवादी ठहरते हैं जो कि ईश्वर को शक्ति रूप में देखते हैं। ईश्वर संसार के उत्पत्ति का कारण है, वह रक्षा करता है और अंत में संहार करता है। माया उसकी शक्ति है। विशेषता इनकी यह है कि इसमें सब जाति वाले और स्त्रियाँ भी भाग ले सकती हैं। इसमें स्त्रियों का बहुत मान है, ये देवियां हैं, पूजने योग्य हैं। महा-निर्वाण तंत्र के अनुसार अगर एक पुरुष अपने स्त्री को बुरे शब्दों में पुकारे तो वह पाप का भागी है और उसे दिन भर निराहार रह कर [illegible] करना चाहिये। स्त्रियाँ गुरु भी बन सकती हैं। संसार स्त्री और [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है।

[illegible] आनन्द मानते हैं। सत्रूप में वह "यह" [illegible] और "[illegible]", "तत्" और "अप" से परे है।

ब्रह्म सत् चित् है, अपनी शक्ति के द्वारा अपने को आवरण में ढँके रहता है। आनन्द रूप में वह आनन्द है, द्वैत को भूल जाने पर ही हम उस आनन्द का दर्शन करते हैं। विश्वसारा तंत्र के अनुसार "जो यहाँ है वह सब जगह है जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है।"

शंकर माया को सत्य नहीं मानते थे पर यहाँ तांत्रिकों का उनसे भेद है। शाक्त माया को ब्रह्म की शक्ति मानता है। शक्ति और शक्तिमान एक है इसलिये माया, शक्ति, शिव या चित् है, संसार का उपादान कारण है।

शंकर संसार को सत्य नहीं मानते पर ये इसे भी सत्य मानते हैं।

शंकर और सांख्य के मतानुयायी दो तत्व मानते हैं पर शैव और शाक्त छत्तिस तत्व मानते हैं, यहां भी दोनों में भेद है।

इनका विश्वास है कि चेतना पर आवरण पड़ जाता है। एक को पुरुष, ब्रह्म और शिव कहते हैं दूसरे को प्रकृति, माया और माया-शक्ति। संसार की उत्पत्ति जब उस ब्रह्म से ही हुई है तो वह भी सत्य है। इस सिद्धांत को शंकर नहीं मानते, उनके अनुसार सत्य वह है जिसमें कभी भी परिवर्तन न आवे। सत्य = जो है—सत् चित् और आनन्द। असत्य = जो हो सकता है—विवर्त्त जगत और प्रपंच। शंकर सत् की तीन अवस्थायें मानते हैं - परमार्थिक व्यवहारिक और प्रतिमासिक। सत्य वह है जो इन तीनों में दिया जा सके। शाक्त आगम इसके विपरीत शिव शक्ति से उत्पन्न सभी वस्तुओं को सत्य मानते हैं। कारण जब सत्य है तो उसका कार्य भी सत्य होगा ऐसा उनका विचार था। इस तरह तंत्र शास्त्र के सिद्धांत वे ही हैं जो पहले से चले आ रहे थे। शंकर से इनका मतभेद कुछ अवश्य है परंतु ये विचार अन्य संप्रदायों में मान्य रहे हैं।

शिव-शक्ति

ब्रह्म सत् चित् आनन्द है, जीवात्मा माया के आवरण में रहता है।

जो कुछ हम देखते हैं वह चित् का स्वरूप है। आत्मा एक है पर शरीर बदलता रहता है। माया से संसार की सृष्टि होती है। संसार ईश्वर की सृष्टि कल्पना है। माया भेद बुद्धि है जिसके द्वारा मनुष्य संसार को अपने से पृथक देखता है। पूर्ण संसार ही शक्ति है।

कुछ साधक अर्द्ध नारीश्वर की पूजा करते हैं। शाक्त महादेवी का पूजन करते हैं। उनके मतानुसार संसार की उत्पत्ति योनि से है। संसार शक्ति का पूर्ण विकास है। त्रिपुर सुन्दरी और काली उसके दो स्वरूप हैं।

मंत्र पत्त में नाद और विन्दु की उत्पत्ति भी शक्ति से ही होती है। नाद से शब्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है। संसार शक्ति में ही मिल जाता है।

कुंडलिनी शिव के चारों ओर लिपटी रहती है। जब तक कुंडलिनी शिव से लिपटी हुई है तब तक महाकुंडलिनी ब्रह्मरूपसनातनी निर्गुण और सगुण दोनों है। निर्गुण रूप में वह चैतन्य निरूपिणी और आनन्द रूपिणी है, सगुण रूप में वह सर्व भूत प्रकासिनी है। साधना के द्वारा साधक भुक्ति और मुक्ति दोनों करतलगत कर सकता है।

शिव ही शक्ति है, जब उसे उत्पन्न करने की इच्छा जाग्रित होतीहै तो शक्ति नाद और विन्दु का रूप धारण कर लेती है जो कि ईश्वर-तत्व है। जब कर्म का उदय होता है तो देवी संसार को उत्पन्न करने के निमित्त माया से अपने को ढंक लेती है। जब वह शिव से मिलना चाहती है तो विकारिणी हो जाती है। उसमें छत्तिस तत्व हैं जिस को तीन भागों में विभाजित किया गया है—आत्मा, विद्या और शिव। पहले में पृथ्वी से प्रकृति दूसरे में माया और पुरुष तीसरे में शिव-तत्व से शुद्ध विद्या। शक्ति में पहले बुद्धि फिर अहंकार, मानस, इंद्रिय और अंत में पंचभूत का विकास होता है। नाद विन्दु शक्ति का रूप है।

यही विन्दु ईश्वर है जिसे कि महाविष्णु ब्रह्म-पुरुष कहते हैं। सत्य लोक या सहस्र से यह आती है। विंदु के तीन रूप हैं विंदु, नाद

और बीज। बिन्दु शिव का स्वरूप है और बीज शक्ति का नाद, शिव शक्ति है। त्रिबिन्दु सूक्ष्म और स्थूल पर, है। तीन बिन्दुओं से इच्छा, ज्ञान और क्रिया, रजस सत्त्व और तामस इत्यादि की उत्पत्ति है। ब्रह्मा विष्णु इत्यादि भी इनके ही बनाने हैं। इन्हीं तीन बिन्दुओं को रवि, चंद्र और अग्नि कहते हैं। अग्नि चंद्र और सूर्य इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति हैं। शिव शक्ति के मैथुन से नाद और उससे महाबिन्दु उत्पन्न होती है जो स्वयंबिन्दु बन जाती है जिसे कामकला कहते हैं।

जीवात्मा

जीवात्मा मूल में स्वतंत्र है परन्तु सृजन में उसका एक रूप है। रूप शक्ति के परिणाम स्वरूप आता है। मस्तिष्क और शरीर प्रकृति से बने हैं। मनुष्य के शक्ति का केन्द्र बीज और कुंडलिनी है। शरीर सत् रज तम से निर्मित है। साधना से सत्व गुण की प्राप्ति ही इनका उद्देश्य है।

शरीर तीन प्रकार का माना गया है—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। आत्मा का निवास स्थूल शरीर में है। कुलारनव तन्त्र के अनुसार जीव पाश से बंधा हुआ है; सदाशिव उन बन्धनों से मुक्त है। पहला पशु है दूसरा पशुपति।

जीव का पहला शरीर अविद्या है। अविद्या की विकृति से लिंग शरीर (अंतःकरण और बहिःकरण या इंद्रिय) की उत्पत्ति होती है और बुद्धि अहंकार का प्रादुर्भाव होता है। सांसारिक ज्ञान, इंद्रियों से मिलता है। इंद्रियाँ दश हैं—जनेन्द्रिय, कर्ण, त्वचा, नेत्र, स्वाद, गंध, मुख, हाथ, पैर एवं गुदा। मानस का कार्य संकल्प विकल्प है। बुद्धि में सत्वगुण, अहंकार में रज, मानस और इंद्रियों में तम का वास है। लिंग शरीर विभु नहीं है, उसमें गति है। स्थूल शरीर अन्नमय है। तूर्यावस्था में समाधि योग के द्वारा शुद्ध विद्या की प्राप्ति होती है।

वर्णमाला

कुंडलिनी को मंत्र से जगाया जाता है, वह ज्योतिसमयी और मंत्रमयी है। मंत्र शब्द ब्रह्म है।

शब्द आकाश का गुण है, इसके दो रूप होते हैं—वर्णात्मक शब्द और ध्वन्यात्मक शब्द। शब्द अनाहत है। शब्द वाक्य पद और वर्ण से बनता है। विचार शक्ति से एक व्यक्ति अपने को देवत्व में परिवर्तित कर लेता है।

शब्द की चार अवस्थायें होतीं हैं—भव जिसे पर कहते हैं, पशयन्ति, माध्यम और भइखरी। पर शब्द कुंडलिनी है जो मूलाधार में रहती है। पशयन्ति मूलाधार से मनीपूर चक्र में रहती है इसका संबंध मानस से है। माध्यम शब्द का संबंध बुद्धि से है और भइखरी का कंठ से है। संसार शब्द और अर्थ है अर्थात् नाम और रूप।

नाम्मोचार से ही विचार की उत्पत्ति है जो चैतन्य है। इसे मंत्र चैतन्य कहते हैं। मंत्र चक्र में रहते हैं। मनीपूर चक्र का बीज राम है। मंत्र चैतन्य के द्वारा साधक मंत्र से काम लेता है। मंत्र देवता एक है, ओष्ठ शिव और शक्ती हैं। उनका चलना ही मैथुन है। शब्द का रूप विन्दु है। शब्द ब्रह्म चैतन्य है, यही कुंडलिनी का रूप धारण करता है। जब तक कुंडलिनी एक घेरा में है तब तक उसे विन्दु कहेंगे, दो में प्रकृति और पुरुष, तीन में इच्छा, ज्ञान, क्रिया और तीन गुण सत, रज और तम। साढ़े तीन के योग से वह उत्पत्ति का कारण और चार से वह देवी रूप धारण करती है। इस तरह कुंडलिनी के ५१ घेरे रहते हैं।

चक्रपद्म

भूतशुद्धी तंत्र केअनुसार शरीर में ७२००० नाडियाँ होती हैं। शिवसंहिता के अनुसार शरीर में ३५०००० नाड़ियाँ हैं। शब्द से नाड़ियों को शुद्ध किया जाता है। शरीर को शुद्ध करके मस्तिष्क को शुद्ध करना चाहिये। १४ मुख्य नाड़ियां हैं जिनमें से इडा, पिंगला और सुषुम्ना प्रमुख हैं। प्राण सुषुम्ना से होता हुआ ब्रह्मरंध्र के द्वारा शरीर को छोड़ देता है। इसका निवास मेरुदंड में है जिसका विस्तार मूलाधार से सहस्र तक है। इन्हें गंगा यमुना और सरस्वती भी कहते हैं।

मूलाधार में ये नाड़ियाँ मिलती हैं, इस स्थान को त्रिवेणी कहते हैं। पिंगला धनसूर्यविद्युति (Possitive solar current) है और इड़ा ऋण चंद्रविद्युति (Possitive solar current) है।

प्रमुख चक्र छः हैं। जिसमें से पाँच मेरुदंड से संबंधित हैं।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मनीपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। मूलाधार के नीचे सात संसार हैं। प्रमुख चक्रों का वर्णन निम्न लिखित है—

(१) मूलाधार—इसका स्थान नाभी के नीचे है। इसमें चार दल हैं। इन दलों पर व, प, श, और स अक्षर है। पृथ्वी तत्व है एवं गंध गुण है। तत्व का रंग पीला है। आकार वर्ग मंडल है। बीज लंग अपने वाहन ऐरावत पर है। देवता ब्रह्मा हैं, उनका वाहन हंश है। डाकिनी शक्ति है। स्वयंभु और त्रिपुर त्रिकोना लिंग और योनि है। अन्य तत्वों में गंध और पद है।

(२) स्वाधिष्ठान—इसका स्थान नाभी के ऊपर है। इसमें चार दल हैं। इन दलों पर व, भ, म, य, र, और ल अक्षर है। अप तत्व है, स्वाद गुण है। तत्व का रंग श्वेत है। आकार द्विज मंडल है। बीज वांग अपने वाहन मकर पर है। देवता विष्णु हैं, उनका वाहन गरुड़ है। राकिनी शक्ति है। अन्य तत्वों में रस एवं हस्त है। अविश्वास, अवशा और मूर्छा का यहाँ वास है।

(३) मनीपुर—इसका स्थान नाभि है। इसमें दस दल हैं। इन दलों पर ड, ढ, ण, त, द, ध, न, द, प और फ अक्षर हैं। तेजस तत्व है, ताप और दृष्टि गुण है। तत्व का रंग लाल है। आकार त्रिकोण है। बीज रंग अपने वाहन रम पर हैं। देवता रुद्र हैं उनका वाहन वृषभ है। लाकिनी शक्ति है। अन्य तत्वों में रूप, दृष्टि एवं गदा है। यहाँ लज्या इर्षा इत्यादि का वास है।

आज्ञा चक्र के ऊपर नो चक्र हैं जिन्हें मानस और सोम कहते हैं। यहीं निरालम्बपुरी है जहाँ योगी ईश्वर को देखता है। इसके ऊपर सूर्य, चंद्रमंडल और प्राणविन्दु हैं। चंद्र के ऊपर महावायु और तब ब्रह्मरंध्र है। शक्ती त्रिकोण रूप में विद्यमान है—इच्छा, क्रिया और ज्ञान। इसके कोण पर वह्निविन्दु चंद्रविन्दु और सूर्यविन्दु काम, शिव और देवी हैं, कला इनका रूप (manifestation) है। यह देवी त्रिपुर सुन्दरी है। यही देवी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को जन्म देती है।

साधक इन्हीं तीन विन्दुओं का ध्यान करता है। योगिनी तंत्र में लिखा है "कला के ऊपर तीन विन्दुओं का ध्यान करो इससे षोडस वर्षीय बालिका जन्म लेती है, उसका तेज सहस्त्रों सूर्य की नाई होता है। वह सिर से कंठ तक ऊपर वाले विन्दु से पैदा होती है, कंठ से मध्य और स्तन से त्रिवली तक नाचे वाले विन्दुओं से पैदा होती है, और नीचे के अंग काम से पैदा होते हैं। इसका पूजन ब्रह्मा, ईश और विष्णु भी करते हैं। इसके ध्यान के पश्चात साधक अपने शरीर को काम कला के रूप में देखता है।"

जब कुंडलिनी ऊपर को जाती हैं तो सब वृत्तियाँ अन्तर्ध्यान हो जाती हैं। नीचे वाले चक्रों की बुरी वृत्तियाँ भी चली जाती हैं। स्वाधिष्ठान और मनीपूर की वृत्तियों को बुरा माना गया है, अनाहत की वृत्तियाँ मिश्र हैं।

विसर्ग के नीचे जो कि ब्रह्मरंध्र का ऊपरी भाग है और संखिनी नाड़ी के समीप है, सहस्त्र है, जिसपर कि संस्कृत के शब्द हैं। यहीं महावायु और चंद्रमंडल हैं जिसमें विन्दु है और यहीं शिव का स्थान है। यहीं निर्वाण शक्ति है।

योग

निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यौगिक क्रियाओं को प्राधान्य कब मिला। पतंजली का योग सूत्र कब लिखा गया यह भी पूर्ण

रूप से ज्ञात नही। हिन्दुओं का विश्वास है कि २ री श० ई० पू० में वे हुए थे। हरमैन जेकोबी के विचारानुसार योग सूत्र को ४५० ई० सन् में किसी उसी नाम के व्यक्ति ने लिखा है। योग पद्धति मूल में पतंजली के योग सूत्र से भिन्न है। इसका पूर्ण विकास मैत्रीय उपनिषद में होता है। भारतीय साहित्यकार इसे सांख्य की एक साखा मानते हैं। सांख्य के सिद्धांत उदाहरणार्थ विश्व-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान योग में ले लिए गये हैं। मोक्ष (emancipation') का भी वही सिद्धांत है। आत्मा और प्रकृति के स्पष्ट भेद से मोक्ष प्रभावित है। सांख्य की नास्तिक विचारावली को इन लोगों ने नहीं माना। इसमें आत्म-निलय doctrine of Absorption का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। अपने वृत्तियों को संसार से हटाकर अन्तमु खी कर लेनी चाहिये उसके बाद भीतर ही ध्यान करना चाहिये। सांख्य के फल स्वरूप ईश्वर (PersonalGod) की भावना रखी गई। विद्वानों के मतानुसार धार्मिक लोगों को प्रसन्न करने के विचार से इसकी कल्पना की गई है। योग सूत्र के वे पद जिसमें ईश्वर संबंधी विचार प्रकट किए गए हैं एक सूत्र में बंधे नहीं दिखाई पड़ते। ईश्वर न तो संसार का निर्माण करता है और न उस पर शासन करता है। मनुष्यों के कर्मों का फलदाता भी वह नहीं हैं। जीवात्मा का परमात्मा में मिलन भी नहीं माना गया है। ईश्वर एक विशेष आत्मा है जो मूलतः और आत्माओं से भिन्न नहीं है। सांख्य योग में व्यक्तिगत ईश्वर के लिये स्थान नहीं है। बाद के उपनिषदों में ईश्वर को विशेष स्थान दिया गया है। आसन इत्यादि का प्राधान्य भी स्वीकृत किया गया जिसके द्वारा हम अपने को बाधाओं से मुक्त कर सकते हैं।

स्वरूप ज्ञान ही योग का उद्देश्य है। क्रिया ज्ञान से स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग से चित्त वृत्तियों का निरोध किया जाता है। योग चार प्रकार के होते हैं—

हठयोग— मंत्रयोग—राजयोग और लययोग।

(i) हठयोग में ज्ञान कुंडलिनी के द्वारा प्राप्त होता है। इसकी आठ अवस्थायें हैं—

१. यम—अहिंसा, सत्यम, असत्यम्, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, सादगी और मिताहार इसके अंग हैं।
२. नियम—व्रत, तप, संतोष, आस्तिक, दान, पूजन, पठन, जप, होम और बुरे कर्म न करना भी बतलाया गया है।
३. आसन
४. प्राणायाम
५. प्रत्याहार
६. धारण
७. ध्यान और
८. समाधि

यम नियम के द्वारा संसार का मोह छूटता है। यम नियम और आसन से शरीर पर अधिकार प्राप्त किया जाता है। प्राणायाम से प्राण वश में किया जाता है। प्रत्याहार के द्वारा इंद्रियों को वश में लाया जाता है। धारण ध्यान और समाधि से वृत्तियों का नाश होता है और केवल बुद्धि कार्य करती है।

(ii) मंत्रयोग—संसार नाम और रूप से बना है, जो मस्तिष्क का विषय है। बीज मंत्र शून्य का रूप है। आसन और प्राणायाम आवश्यक है।

(iii) राजयोग—संसार से संबंध तोड़ आज्ञाचक्र में मानसध्यान लगाया जाता है। इसमें मानस का आत्मा से मिलन होता है जिसमें कि ज्ञानी अपने को देखता है।

(iv) लययोग—चित्त वृत्तियों को वश में कर प्रकृति शक्ति को पुरुष शक्ति से मिलाया जाता है।

मूल सिद्धान्त इस प्रकार है पहले समाधि के द्वारा प्राण को इड़ा और पिंगला से ले जाया जाता है इसके बाद यह नाड़ियां मर जाती

है। चंद्र इडा में अमृत देती है और सूर्य पिंगला से चलते हुए अमृत को सोख लेता है। मूलाधार में सूर्य और चंद्र के मिलन को अमावस्या कहते हैं। इस बीच कुंडलिनी आधार कुंड में सोई रहती है। जब योगी चंद्र और सूर्य को उनके स्थानों पर स्थित कर देता है तब अमृत को अग्नि सोख लेती है। भोजन करने के लिए वायु के द्वारा कुंडलिनी जाग्रित होती है। वह सहस्त्र में जाती है और चंद्र को काटती है। वहां से अमृत झरने लगता है। फलस्वरूप अमृत शरीर में व्याप्त हो जाती है। कुंडलिनी का ऊपर जाना लय कर्म है और नीचे आना सृष्टि कर्म। जाग्रित अवस्था में कुंडलिनी कुमारी है, अनाहत में यौवनावस्था को प्राप्त होती है और सहस्त्र में पतिव्रता हो जाती है।

कौल संप्रदाय वाले कुंडलिनी को जाग्रित नहीं करते, उसे मूलाधार में ही रखते हैं, और वामाचार को साधते हैं। भौतिक आनन्द उनका उद्देश्य होता है।

साधक साधना की अन्तिम अवस्था में शिवोहम्, भैरवोहम्, सोहम् का अनुभव करता है।

वामाचार

वामाचार तंत्र शास्त्र का एक प्रमुख अंग रहा है। उसमें विचार तो शुद्ध एवं सात्विक थे परंतु शनैः शनैः उसका ह्रास होता गया और उसमें अश्लीलता आता गया। बाद में कामपिपासा को शान्त करने का वह साधन मात्र ही रह गया।

वामाचार में साधक संसार से अपना संबंध तोड़ देता है। न तो किसी वस्तु से वह घृणा करता है और न लज्या, न उसकी कोई जाति है और न उसका कोई समाज। वह अवधूत हो जाता है।

कपालिक, कालामुख, पशूपत, दिगम्बर, अघोर और कौल इसके संप्रदाय हैं।

कौलों का एक संप्रदाय पंचतत्वों से अपने इष्ट देव का पूजन

करता है। अघीर और पशुपत ब्रह्मचर्य को मानते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि ये मांस और मदिरा का पान भी करते हैं। कालामुख संप्रदाय के साधक कुमारियों का पूजन करते हैं और कुछ देवियों का पूजन करते हैं। वामाचार वह आचार है जिसमें स्त्री का समावेश होता है।

कुलकरन तंत्र के अनुसार साधक सच्चरित्र होना चाहिए, मदिरा और स्त्री उनके लिये वर्जित है।

महानिर्वाण तंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वेश्यागामियों को और उनको जो कुमारी कन्याओं की ओर बुरी निगाह से देखते हैं राज्य की ओर से दंड मिलना चाहिये।

शास्त्रों के अनुसार भी पत्नी के साथ मैथुन करना पाप माना गया है। अष्टांगमैथुन अर्थात् स्मरण, कृतनम्, केलि, प्रेक्षनम्, गुह्यभाषनम्, संकल्प, करने का विचार और क्रिया-निष्पति वर्जित है।

साधक तीन प्रकार के होते हैं।

पशु (तामसिक साधना)

वीर (राजसिक साधना)

दीव्य (सात्विक साधना)

पंचतत्त्व के द्वारा उपासना पशु और दीव्य साधकों के लिये नहीं है, इसके अधिकारी केवल वीर हैं।

मनुष्य की आत्मा, शरीर और उसके कार्य ईश्वरीय हैं। अज्ञानी ही प्राकृतिक कार्य को निकृष्ट कहते हैं। हमारे आन्तरिक विचार ही किसी वस्तु को अच्छे या बुरे रूप में उपस्थित करता है। आनन्द से मौन की उत्पत्ति होती है जिसमें शरीर और आत्मा का संयोग होता है।

ये व्यक्ति जो प्रत्येक वस्तु को ईश्वरीय मानते हैं किसी भी वस्तु के द्वारा उपासना करने के अधिकारी हैं। पाप वस्तु में नहीं वरन् हमारे विचार एवं क्रिया मनुष्यों में है, इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर इनकी व्यवस्था की गई।

कुछ विद्वानों के विचारानुसार शास्त्रों का यह भाग शूद्रों के लिये

बनाया गया है। वे विधि से पूजन नहीं कर सकते मदिरा पान इत्यादि उनके लिए आवश्यक है, परंतु इससे तभी छुटकारा मिल सकता है जब उसको धार्मिक रूप दे दिया जाय ऐसा उनका विचार था। हमारे यहाँ भक्ति के कितने रूप मिलते हैं जिससे कि साधक को मुक्ति मिलती है, उदाहरणार्थ बहुत से पापी शत्रु भाव से ही ईश्वराधन कर मुक्ति के भागी हुए। इसके मूल में भी यही भावना थी कि अगर इस तरह से भी वे ध्यान करें तो एक समय आयेगा जब वे इन वस्तुओं से घृणा करने लगेंगे।

शक्ति के पूजक शक्ति को संसार की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। और इसीलिये जगत् ब्रह्मांड के ही माध्यम से वे शक्ति का पूजन करते हैं।

महानिर्वाण में मदिरा का रूप अग्नि, मांस का वायु, मछली का पानी, मैथुन का आकाश और खाने योग्य अनाज का पृथ्वी है।

तांत्रिक अपने स्त्री को शक्ति या भैरवी रूप में देखता है। स्त्री को लता, मैथुन को लता साधन और मदिरा को तीर्थावरी कहते हैं। इनके अर्थ साधनाओं के अनुसार बदला करते हैं। वीरों की साधना में मदिरा का रूप मदिरा है मैथुन का मैथुन। पशु में मदिरा का रूप नाड़ी का पानी है, दिव्यों के लिये मदिरा ईश्वरीय ज्ञान है।

जब तक शुद्धि नहीं मिल जाती मद्यपान निषिद्ध है, मैथुन भी तब तक नहीं करना चाहिये जब तक कि शरीर की शुद्धि नहीं हो जाती। देवी तीन प्रकार की होती है—स्वकिया, परकिया और वेश्या। शक्ति के भी दो रूप हैं—भाग्य और पूज्य। पूज्य माता तुल्य होती है।

मदिरापान भी दो प्रकार का होता है—काम पिपासा को तृप्त करने के लिये और विधि के अनुसार।

पूजन करते समय साधक और साधिकायें चक्र के रूप में खड़े होते हैं। साधिका साधक के बायें ओर रहती है, इसे चक्र पूजन करते हैं।

वीर जो कि बिना विवाह किये मैथुन करता है वह परस्त्रीगामी

और पापी है। अपनी स्त्री ही पाँचवाँ तत्व हो सकती है। अगर स्त्री अनाधिकारिणी है तो दूसरी स्त्री का विधान भी किया गया है। पूजन समाप्त हो जाने पर यह सब कर्म निषिध बतलाये गये हैं। ब्रह्मचारी परकिया शक्ति के साथ मैथुन करता है।

साधक और साधिका को एक ही स्तर का होना चाहिये। साधक अगर साधिका का परित्याग कर दे तो उसकी साधना व्यर्थ समझी जाती है।

मदिरा, स्त्री, मांस इत्यादि ही मनुष्यों के पतन का कारण हैं। जिस प्रकार विप से विप के प्रभाव को नष्ट किया जाता है उसी प्रकार इन साधनों के द्वारा मनुष्य अपने बुरे विचारों का परित्याग कर दे, ऐसा उनका विचार था। इसमें संदेह नहीं कि इनके विचार एवं सिद्धांत ठीक थे परंतु उसका पतन भी स्वाभाविक था।

इसी के फलस्वरूप समाज में व्यभिचार अपने चरम को पहुँच गया था। लोग मंत्र के द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण किया करते थे। ओं वौषट्औषट् आदि शब्दों का प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता था। तंत्र शास्त्र ने इसे बुरा कहा पर साधकों ने उसे अपनी वासनाओं के तृप्ति का साधन ही बनाया। हम ऊपर देख चुके हैं कि वामाचारी कुंडलिनी को जाग्रित नहीं करते थे और मूलाधार में ही उसके द्वारा अपनी इच्छाओं को पूर्ण करते थे। इसका प्रभाव मूल हिन्दू धर्म पर भी पड़ा फलस्वरूप वैदिक धर्म का धीरे धीरे ह्रास होने लगा। वेद स्वतः प्रमाण हैं अब मान्य नहीं रह गये। कर्मकांड विशेष् रूप से विकसित हो चुका था, सामाजिक व्यवस्था में जन्मगत वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म वैदिक धर्म के अंग माने जाने लगे थे। फलतः सुधार आन्दोलनों की नींव पड़ी, उनका ध्येय परंपरागत वैदिक धर्म की त्रुटियों को हटाने का था। भगवान बुद्ध ने बौद्ध मत का प्रचार आरंभ किया। उन्होंने अनुभव किया कि संसार में दुःख है और उसका कारण है लोभ। उनके विचारानुसार मध्यम प्रतिपदा या मध्यम मार्ग के

अनुसरण से ही दुःख की निवृत्ति होती है। मूल बौद्ध धर्म केवल एक सुधार मात्र था परंतु पीछे से यह एक धर्म हो गया। आगे चलकर बौद्ध धर्म दो प्रधान भागों में विभक्त हो गया—महायान और हीनयान।

महायान में ही हमें वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म का स्फुट बीज मिलता है। सांकृत्यायन जी महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति नामक निबंध में लिखते हैं, "कथावस्तु की अट्ठकथा में वैपुल्यवादियों को महाशून्यवादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि नागार्जुन शून्यवाद के आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार वैपुल्य वाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। "कथा वस्तु" में दो बातें विशेष महत्व की हैं। एक तो वैपुल्यों के खंडित सिद्धांतों में "शून्यता" नहीं सम्मिलित है। इनके मतसंघ, बुद्ध और मैथुन के विषय में भेद रखते थे। इनका कहना था—संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परि शुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध ने धर्मोपदेश किया। खास मतलब से मैथुन का सेवन किया जा सकता है।"

महायान ने इस प्रकार सर्व प्रथम मंत्रयान का रूप धारण किया। यहाँ से बौद्ध धर्म का पतन आरंभ होता है। बुद्ध के वचनों के पाठ मात्र से पुण्य माना जाने लगा। बौद्ध अंध विश्वासी होते जा रहे थे। उनके वचनों के उच्चारण मात्र से रोग भय आदि का नाश समझा जाने लगा। भूत प्रेत इत्यादि से अपने को बचाये रखने के लिये सूत्रों की रचना की जाने लगी। वैपुल्यवादियों ने "ओं मुने मुने महामुने स्वाहा", "ओं आ हुं", "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मंत्रों की सृष्टि की।

इस प्रकार मंत्रयान बौद्धों में फैल गया। इसका जन्म स्थान श्री धान्य कटक और श्री पर्वत माना गया है। मालती माधव में भव-भूति ने श्री पर्वत का वर्णन किया है। इसमें सौदामिनी जो एक बौद्ध

भिक्षुणी थी पद्मावती से श्री पर्वत पर मंत्र तंत्र सीखने गई। बाण भी श्री पर्वत के इस महात्म्य से परिचित थे। मृच्छकटिक में भी इसका वर्णन आता है।

योग की कुछ क्रियाओं का अभ्यास पहले से चला आ रहा था। जनता पर प्रभाव डालने के विचार से नाना प्रकार के हठ, मंत्र और तंत्र की सृष्टि की गई। काम पिपासा को मिटाने के हेतु साधनों में मद्य और मैथुन का श्री गणेश हुआ और बौद्ध धर्म में मंत्र, हठयोग और मैथुन आ मिले।

७ वीं स० में मंत्रयान का प्रथम रूप समाप्त हुआ और उससे ही वज्रयान की उत्पत्ति हुई। सांकृत्यायन जी छठी श० को वज्रयान की उत्पत्ति की ऊपरी सीमा और ८४ सिद्धों को निचली सीमा मानते हैं। वैपुल्य सूत्रों में अभी तक सदाचार के नियमों की अवहेलना नहीं की गई थी। भैरवी चक्र का प्रथम उल्लेख वज्रयान के साथ जनता के सन्मुख आया।

वज्रयान में "महासुह" वह दशा बतलाई गई जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। "युगनद्ध" को इसका प्रतीक माना गया। कण्हपा के वचनों में, "जिमिलोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित्त" इसी सिद्धांत का संकेत मिलता है। ऊँचे नीचे वर्णों की स्त्रियों के साथ मद्यपान के साथ अनेक वीभत्स विधान साधना के प्रधान अंग बनाये गये, इसमें अकरणीय भी करणीय और निषिद्ध भी विधेय ठहराया गया।"

हिंसा, असत्य भाषण, मद्यपान, स्त्रियों के साथ दुराचार सिद्धि के आवश्यक साधन समझे जाने लगे थे। माता, सास, बहिन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जाती थीं।

बौद्धों के पूर्व से ही ये बातें चली आती थीं, जैसा कि हम ऊपर देखते आये हैं। वज्रयान के बीज हमें तंत्रों के वामाचार में मिलता

है। यह एक परंपरा थी जो प्रारंभ काल से ही चली आ रही थी और जिसका पुनरुत्थान बौद्धों के वज्रयान में लक्षित होता है। परंतु इसे हम तंत्र के फलस्वरूप नहीं मान सकते। इसमें सन्देह नहीं कि यह मूल का विकृत रूप था।

इस वज्रयानी सिद्धई से जनता का उद्धार आवश्यक था। वज्रयान की प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसे आंदोलन ने जन्म लिया जिसने योग सिद्धि के लिये स्त्री को आवश्नक उपादान नहीं प्रत्युत परीक्षा का साधन बतलाया। गोरख के शब्दों में—

"व्यंद और भग बाघणि औरें, बिन दांतां जग पाया।"

और योगी वही है जो—

"भग मुषि व्यंद अगनि मुषि पारा। जो रापै सो गुरू हमारा।"

इस संप्रदाय में योग की नेती, धोती, आसन, बंध और मुद्रा इत्यादि के साथ साथ विंदु धारण का विशेष महत्व था।

गोरख ने पतंजली के उच्च लक्ष्य, ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठ-योग का फिर से प्रचार किया। गोरख ने इस प्रकार पतंजली की हठ-योग संबंधी साधना को व्यावहारिकता प्रदान की! "मनुष्य की सांसारिक सत्ता और सत्संबंधी द्वैतभाव का खोजना तथा उसे खोकर परमात्मा सत्ता या अद्वैत में युक्त हो जाना ही योग की व्यापक व्याख्या हो सकती है।" चित्त वृत्ति के निरोध अर्थात् मन, बुद्धि और इंद्रियों के संयम पूर्वक साधन को ही पतंजलि ने योग की संज्ञा दी है। डा० श्याम सुन्दरदास ने अपने इतिहास में लिखा है "यह हठयोग एक प्रकार से योग संबंधी निवृत्ति प्रधान मार्ग है। निवृत्ति मूलक साधना बहुत कुछ परिस्थितियों का ही परिणाम थी, एकांत मत न था। सांसारिक योग क्षेम का तिरस्कार नहीं किया वरन् अत्यधिक शारीरिक आयास या कष्ट सहन को वे योग मार्ग में आवश्यक समझते थे।" उनके अनुसार, "हठयोग पूर्णतः भारतीय योग पद्धति है। कबीर तथा उनके अनुयायियों पर सूफी प्रेमवाद तथा इस्लामी एकेश्वर

वाद की जो छाप दिखाई देती है वह नाथ संप्रदाय में नाम को भी नहीं।"

एक बार फिर नाथ संप्रदाय के प्रमुख आचार्य गोरख ने योग को अपने स्थान पर स्थित करने का सफल प्रयत्न किया। वामाचार ने जिस व्यभिचार को जन्म दिया था उसका समूलनाश ही इनका ध्येय रहा।

नाथ-संप्रदाय

कनफटे योगी अपने संप्रदाय को गोरखनाथ से बहुत पुराना बतलाते हैं। उनके अनुसार वे मत्सेन्द्रनाथ के १२ शिष्यों में से एक ठहरते हैं, जो कि आदिनाथ के शिष्य थे, जिन्हें नेपाली बौद्ध देवता आर्य अवलोकितेश्वर मानते हैं।

नाथपंथ और विशेषतः गोरखनाथ के समय के संबंध में परिस्थिति अत्यन्त अस्थिर है। भारतीय दन्त कथाओं में गोरखनाथ सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान माने गए हैं। नेपाल में उनका संबंध नरेन्द्रदेव से जोड़ा जाता है जो ७ वीं० श० में राज्य करते थे। उत्तरीय भारत में उन्हें कबीर का समकालीन बताया जाता है। उनका संबंध धर्मनाथ से भी बताया जाता है जो १४ वीं० श० के अंत में हुए।

कनफटे योगी भी दो भागों में विभक्त किये जाते हैं। एक तो अपना संबंध सीधे गोरखनाथ से मानते हैं और दूसरे उनके शिष्य धर्मनाथ से।

कुछ गोरखे उन्हें गोरख का संत कहते हैं जिसने नेपाल को जीता जो मच्छेन्द्रनाथ के शासन में था।

तिब्बतियों के अनुसार ये एक बौद्ध जादूगर थे और इनके कनफटे शिष्य भी बौद्ध थे परन्तु बाद में शैव मतावलम्बी हो गये। उन का विचार है कि तत्कालीन राजा को प्रसन्न करने के लिये इन सबों ने शैव मत ग्रहण कर लिया था।

कुछों लोगों के अनुसार गोरख ईश्वर थे। उनका कहना है कि

इनकी ही शिक्षा के फलस्वरूप राजा भरथरी सन्यासी हो गये।

कनफटे शैवों का भी एक दल था। बंगाल के रंगपूर वालों का कहना है कि कनफटे शंकराचार्य के शिष्य थे। पर चूंकि वे मदिरा पान इत्यादि करने लगे थे इसलिये उन्होंने इन नवों को निकाल दिया।

कुछ जनश्रुतियों के आधार पर कनफटे उत्तरी भारत से आये जिस समय बौद्ध धर्म प्रगतिशील था। संभव है इन पर बौद्धों का प्रभाव रहा हो परंतु गोरख के नेतृत्व में ये उस बंधन से मुक्त हुए और इन्होंने सैद्धांतिक रूप से अपना संबंध उपनिषदों से जोड़ा।

कुछ लोगों के विचारानुसार दूसरी शताब्दी के पूर्व से इनकी परंपरा चली आती है। संख्या में ये नौ थे। आचार विचार दोआब के रसेश्वर सिद्धों से मिलते थे।

वीरमहेश्वर के अनुसार गोरखनाथ १२ वीं श० के मध्य में हुए थे। श्रीसद्धम में (जो तुंगभद्रा के दक्षिण में है) वे शुद्ध मार्गी महेश्वरसिद्ध से मिले और उनसे उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। सिद्धों की संख्या नौ कोटि बतलाई गई है जिनका संबंध नौ सिद्धों से स्थापित किया जाता है। कुछ विद्वान नौ कोटि सिद्धों से नौ नाथ सिद्धों का कोई संबंध नहीं मानते।

एक परंपरा के अनुसार भोग नामक एक चीनी Tosoist से ये प्रभावित थे जो मूलनाथ के समय में हुआ था। इसे आगामी सिद्धों का जन्मदाता माना गया है। मूलनाथ आठ सिद्धों में से एक माने गये हैं, जिन्हें कहा जाता है कि स्वर्ग से ही शिक्षा मिली थी। सनक, सनंदन, सनातन, सनत-कुमार पतंजली और व्याघ्रपद का संबंध इनसे जोड़ा जाता है।

राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार सरह आदिम सिद्ध है, और वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८-८०६) के समकालीन थे; इसलिये उनका समय ८ वीं श० का उत्तरार्द्ध मानना चाहिये। उन्होंने लोक

भाषा की अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन सहन और यौ क्रियाओं से वज्रयान को एक सार्वजनिक धर्म बना दिया था। १२ वीं से १४ वीं श० तक यह धर्म विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरह का समय ६३३ ई० निश्चित किया है। अन्तिम सिद्ध का समय ११ वीं श० के अन्त से पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धों का युग ८००-११७५ ई० मानना ठीक होगा।

नाथ पन्थ चौरासी सिद्धों से ही निकला है। गोरख सिद्धांत संग्रह में "चतुर शीति सिद्ध" शब्द के साथ निम्नलिखित सिद्धों का नाम मार्ग प्रवतक के तौर पर लिखा गया है—नागार्जुन, गोरक्ष, चर्पट, कन्या-धारी, जालन्धर, आदिनाथ कण्हपा। इससे चौरासी सिद्धों और नाथ पंथ के सम्बन्ध में संदेह की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। नाथपंथी महाराष्ट्रिय ज्ञानेश्वर ने अपनी परंपरा इस प्रकार दी है—

१—आदिनाथ

२—मत्स्येन्द्रनाथ

३—गोरखनाथ

४—गहनी नाथ

५—निवृत्ति नाथ

६—ज्ञानेश्वर

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं। इस परंपरा में बीच के पुरुषों को छोड़ दिया गया है क्योंकि गोरखनाथ ६ वीं० श० और ज्ञानेश्वर १४ वीं० श० के बीच में सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकती।

सांकृत्यायन जी के मत का खंडन करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है "उनका आधार वज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक 'रत्नाकर गोपन कथा' है, जिसके अनुसार मोननाथ के पुत्र मत्स्येन्द्र नाथ काम रूप के मछवाहे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धों की अपनी सूची में सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येन्द्र को जलन्धर का शिष्य लिखा है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला

माना है। गोकुलप्रसाद जी ने [illegible] का समय [illegible] देवपाल के समय में अर्थात् सं० ९०० के आसपास माना है। इस प्रकार उन्होंने जिस आधार पर विचार किया, उसके अनुसार [illegible] के [illegible]-नुसार गोरख सिद्धों के नामों में [illegible] होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्ष और [illegible] और मीनपा से मत्स्येन्द्र का नाम आया है [illegible] संबंध न हो। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की [illegible] में और सब सिद्धों का [illegible] और देश का उल्लेख है पर गोरख और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। मत्स्येंद्र [illegible] के शिष्य थे, [illegible] की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। महाराष्ट्र परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के कुछ पीछे के होने का अनुमान हो जाता है। नाथ पंथ सिद्धों की परंपरा से [illegible] है, इसमें कोई संदेह नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल इनके ग्रंथों को १३५० के लगभग का मानते हैं और उनका संबंध मुसलमानों से हुआ था।

डा० मोहन सिंह गोरख का समय ईसवी १०वीं श० मानते हुए लिखते हैं कि हो सकता है मत्स्येन्द्र आदि इनके समकालीन न भी रहे हों।

डा० बड़थ्वाल इनका समय १००० के लगभग मानते हैं। गोरख-बानी की भूमिका में आपने लिखा है, "यहाँ पर इतना ही कह देना बस होगा कि नाथ परंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक संभव यह समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ग्यारहवीं शती में हुए। ये रचनाएं जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं; यह नहीं कहा जा सकता। परंतु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।"

"हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास" में डा० रामकुमार ने गोरख का समय १३वीं श० का मध्य माना है। श्री ज्ञानेश्वर रचित

"ज्ञानेश्वरी" के आधार पर श्री ज्ञानेश्वर महाराज के प्रपितामह श्री त्र्यम्बक पंत थे जो गोरखनाथ के समकालीन थे। पंगारकर के विचारानुसार पंत ने पाँच वर्ष तक बीड़ के देशाधिकारी का काम किया था। इन्होंने सं० १२७० के लगभग अपनी उत्तर वयस में गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। इससे ज्ञात होता है कि गोरखनाथ सं० १२७० में वर्तमान थे और वे इतना प्रसिद्ध अवश्य हो गये थे कि उनका शिष्यत्व एक देशाधिकारी कर सके। अतएव इस आधार पर इनका आविर्भावकाल विक्रम की १३ वीं० श० का मध्य मानना चाहिये।

ज्ञानदेव की गुरू परम्परा—

१—मत्स्येन्द्रनाथ

२—गोरख नाथ

३—गैणी नाथ

४—श्री ज्ञानेश्वर

इस गुरू परम्परा के साथ ज्ञानेश्वर की वंशावली पूर्ण साम्य रखती है। गोरख ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पंत के समकालीन थे। त्र्यम्बक पंत का समय १२५० है अतः गोरख का समय भी यही मानना चाहिये अर्थात् १३ वीं० श० का मध्य।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था। उसने १४ वीं० श० में कनफटे पंथ का प्रचार कच्छ में किया। धर्मनाथ का काल १४ वीं० श० का प्रारम्भिक भाग माना गया है इससे भी गोरख १३ वीं० श० के मध्य में ही ठहरते हैं।

विचार और साधना

गोरख नाथ के विचारानुसार ब्रह्म सत् और असत् दोनों से परे है—

"बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥"

यहाँ से संसार की उत्पत्ति हुई है, उसकी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उसे पाने के लिये साधक, "अनंत [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यह राज मार्ग है जिस पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं। वेद इत्यादि बाधक हैं—

"बेद् कतेब न खानीं बानीं। सब ढंकी तलि आनीं॥

गगन सिषर महिं सबद प्रकास्या। तहं बूझै अलष बिनाणी॥"

इस रहस्य को बिरले ही जानते हैं, यह भाषा का [illegible] है जिसका [illegible] आवश्यक है। ईश्वर को खोज भिन्न भिन्न [illegible] में देखने [illegible] ठीक नहीं। योगी का ध्यान तो और ही अलग पर होता है—

"हिंदू आपैं राम कौं मुसलमान खुदाई।

जोगी आपैं अलख कौं तहाँ राम अछै न खुदाई॥"

यह सब होते हुए भी उनका और धर्मों से द्वेष नहीं था। गोरखनाथ जी ने जहाँ वेद इत्यादि को अंधकार की उपाधि दी है वहाँ यह भी संकेत करना नहीं भूलते कि वे भी सत्य हैं परन्तु हम उन्हें समझ नहीं पाते। उदाहरण स्वरूप एक काजी जीव हत्या करते हुए केवल मुहम्मद के नाम के सहारे ही पार उतरना चाहता है, वह समझता है कि जीव हत्या का वहाँ विधान है परंतु गोरख कहते हैं कि यह उसकी भूल है वह मूल तत्व को ही नहीं समझ सका है, जिस छुरी का मुहम्मद प्रयोग करते थे वह शब्द की सूक्ष्म छुरी थी—

"सबदैं मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं।

ताकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं शरीरं॥"

इसके द्वारा जीवहत्या नहीं होती, इससे मनुष्यों की भौतिकता का नाश किया जाता है, जिससे विषय वासनादि की प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और आध्यात्मिक जीवन आरंभ होता है।

उपासक की योग्यता के अनुसार ही पथनिर्माण करना चाहिये। अनुभूति ही सच्ची है और संभाल कर रखने की वस्तु है, वाद-विवाद तो केवल आडम्बर मात्र है—

"मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा बाद विवादं ।"

एक गुरू की आवश्यकता पड़ती है जो साधक को मार्ग दिखा सके—

"अठसठि तीरथ समंदि समादें यूं जोगी कौं गुरु सुषि जरनां ।"

योगी जब सफल हो जाता है तो देवगण उसके चरण को पखारते हैं, आवश्यकता इतनी है कि—

"अरधै जाता उरधै धरै, काम दगध जे जोगी करै ।
तजै अल्यंगन काटै माया, ताका बिसुन पषालै पाया ॥"

तंत्र काल से ही गुरू को विशेष महत्व मिला था क्योंकि साधना प्रणाली व्यावहारिक थी। आन्तरिक नाद का जागरण गुरू के उपदेश से ही होता है। वह स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म का परिचय करा देता है—

"सबदहिं ताला सबदहिं कूंची, सबदहिं सबद जगाया ।
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया ॥"

आत्मानुभाव के उपरांत—

"गगने न गोपंत तेजे न सोपंत पवने न पेलते बाई ।
मही भारे भाजेत उदके न डूबंत कहौं तौकी पतियाई॥'

गोरख के अनुसार भी माया के दो स्वरूप हैं—(i) अविद्या रूप में वह जीव को वश में कर बंधन में डालती है। (ii) विद्या रूप में वही मोक्ष दायिनी है। मन को दबाकर नहीं मारना चाहिये ।

"बापिन मारिवा बालीन राषिना जांनिवा अगनि के भेवं ।
बूढ़ी ही थे गुरबनी होइगी सति सति भाषत श्रीगोरष देवं ॥"

गोरख ने भी देवताओं को श्रेष्ठ नहीं माना है और उनकी निंदा भी की है—

"ब्रह्मा देवता केंद्रय व्याप्य। चंद्र सहंस्र भग पाऊ।
अठ्यासी सहंस्र रषीसर केंद्रय व्याप्या। असाधि विष्न की माया ॥

चेनं केद्रय ईश्वर महादेव नाटारेभ नचाया।
विप्न दस अवतार व्याप्य असाधि केंद्रय जती गोरषनाथ साध्या।"
संसार माया के चक्र में फंसा है—
"तूधी में तिरलोक समाया त्रिवेणी रवि चंद्रा।"
गोरख के विचारानुसार देवताओं की उतपत्ति भी माया के द्वारा ही हुई है। स्वयं माया कहती है—
"बाप नही हांतो तिथ्यां बैठण डेरे, माता बाल कुंवारी जी।
पीवनैं पौढ्यौ मान्यौ पालवैं, तिहां हं हीं ज हि बोलनें हारी जी॥
ब्रह्मा विष्न मैं आदि महेस्वर, ये तीन्यूं मैं जाया।
इन तिहुँवांनी मैं घर घरणौं, हूँ कर मोरी माया जी॥"
तुलनात्मक दृष्टि से अगर हम इन सब का अध्यन करें तो देखेंगे कि इन सब का मूल अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप, माया, संसार और देवता गोरख ने तंत्र से ही लिये। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं जिस समय गोरखनाथ जी आये उस समय व्यभिचार अपने चरम पर था। धर्म के नाम पर साधक अपनी वासनाओं को तृप्त करने में संलग्न रहा करते थे। गोरखनाथ ने व्यभिचारों को अपने पंथ में न आने देने का सफल प्रयत्न किया है, योगियों को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—
"हबकि न बोलिबा, ढबकि न चालिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणंत गोरख रावं॥"
योगी विरक्त होता है उसका कोई घरबार नही। भ्रमण करना ही उन का काम है परन्तु भ्रमण देशान्तर के उद्देश्य से निषिद्ध है। गोरख के विचारानुसार तीर्थाटन इत्यादि से तत्व की प्राप्ति नहीं होती। उनकी साधना का रूप अन्तमुंखी है—
"काम क्रोध अहंकार निवारौ तौ सबै दिसंवर कीया।"
शरीर को कष्ट देना ठीक नहीं क्योंकि ये बातें गौण हैं—
"धाये न पाइबा भूषे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं
हठ न करिबा पड्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरष देवं॥"

जो साधक बाह्य उपचारों से या केवल योग से सिद्धि चाहते हैं उन्हें सावधान करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

"पावड़ियां पग फिलसै अवधू लो है छीजंत काया।
नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया॥"

बाह्य साधन पर्याप्त नहीं वहाँ तो ऐसे वीर की आवश्यकता है जो वृत्तियों को अन्तर्मुखी करले। भिक्षाटन इत्यादि बेकार है, घर छोड़ कर सन्यास लेने से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती—

"मनवां जोगी काया मठी पंच तत्त लेकंथा गठीं।
पिसा सदासण ग्यान अधारी सुमति पावडी ढंढ बिचारी॥"

तब—

"अमरा, निरमला पाप न पुंनि सत रज तम नित्र रजित सुंनिं।
सोहं हंसा सुमिरै सबद तिहं परमारथ अनंत सिध॥"

विभिन्न साधन सीढ़ियाँ हैं, जिस पर चढ़कर हम ऊपर जा सकते हैं। इसमे साधक अपने को इस योग्य बना लेता है जिससे कि वह सफलता प्राप्त कर सके। मन को वश में रखना चाहिये। अगर इसे जीत सकें तो जीत नहीं तो हार। मन परंब्रह्म स्वरूप है। माया के सहारे ब्रह्म मन रूप में अवतरित होता है अगर इसे साधक उन्मनावस्था में लीन कर सके तो वह सर्वज्ञ हो जाता है—

"यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पांच तत्त का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै। तौ तीनि लोक कीवातां कहै॥"

बड़े बड़े तपस्वी तपस्या के हेतु उतराखंड गेरुआ धारण कर जाते हैं परंतु यहां तो उत्तरा खंड का रूप ही और है—

"उत्तर षंड जाइबा सुंनिफल खाइबा ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं।
नीझर झरणों अमृत पीया यूँ मन हूवा थीरं॥"

यहाँ हम तभी पहुँच सकते हैं जब हम अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी कर लें और इसके लिये प्रत्याहार आवश्यक है—

"दृष्टि अग्र दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कोनं।
नासिका अग्ने पवन लुकाइबा तब रहि गया पद निरबानं।।"

आसन इत्यादि का निरपेक्ष महत्व नहीं है ये बाहरी साधन मात्र हैं जिनके करने से अभ्यंतर ज्ञान की प्राप्ति होती है—

"आसण वैसिवा पवन निरोधिवा, थांन मांन सब धंधा।
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत ज्यूँ जल दीसै चंदा।।"

नव नाड़ी, बहत्तर कोठा, अष्टांग इत्यादि भी झूठ है काल सिर पर खड़ा ललकारता है—

"ऊभा मारूं वैठा मारूं जागत सूता।
तीनि लोग भग जाल पसारया कहाँ जाइगो पूता।।"

योगी का आसन अविचल, अहार अल्प और निद्रा क्षीण होनी चाहिए साथ ही—

"अवधू पारै पिरै पाटै झरै मीठै उपजै रोगं।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू ध्रंवै पांणी जोगं।।",

वही सिद्ध है एवं गुरु बनने योग्य है जो—

"भग मुषि व्यंद अगनि बनने मुषि पारा। जो रापै सो गुरु हमारा।"

दुर्गणों से अपने को बचने का उपाय सरल है, साधक को चाहिये—

"चालिबा पंथा कै सीवा कंथा धरिबा ध्यानं कै कथिबा ग्यानं।।"

इस प्रकार वह अपने मन को काबू में रख सकता है। गुरु योग्य होना चाहिये। यहाँ गुरु का परिभाषा ही और है। अच्छा गुरु न मिले तो बिना गुरु के रहना ही लाभप्रद है—

"ग्यानं सरीपा गुरु न मिलिया चित्त सरीपा चेला।
मन सरीपा मेलु न मिलिया ताथै गोरख फिरै अकेला।।"

साधक को निष्काम कर्म करना चाहिए। योगियों के ज्ञान में और पंडितों के ज्ञान में भेद है इसे गोरखनाथ ने रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है—

"गगनि मंडल मैं गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छाछि छाणि पिंडता पीवी सिधां माखण खाया ॥"

अर्थात् गगन मंडल में अनुभूति के शिखर पर परमानुभूति रूपी गाय बियाई अर्थात् परमानुभूति का ज्ञान किया । उसका सार लेकर उन्होंने उपनिषदादिक ग्रंथों की रचना की (कागद दही जमाया) पंडितों ने इस दही को छान कर केवल छाछ का ग्रहण किया, वे शब्दों में ही फंसे रहे किन्तु सिद्धों ने सार को ढूंढ़कर माखन रूपी ज्ञान को ग्रहण किया है ।

उनके अनुसार—

"जोग का मूल है दया दान ।"

किसी भी वस्तु की आशा नहीं रखनी चाहिये क्योंकि—

"जे आसा तो आपदा जे संसा तो सोग ।"

और जब तक वे कहते हैं सिद्धि नहीं मिलती चिंता भी किसी भी प्रकार की नहीं होनी चाहिये—

"अंत अनंत ही उपजै चिंता सब जुग पीड़ ।
जोगी चिंता बीसरै तौ होइ अनंतहि लीन ॥"

जो संसार की आसक्तियों से डरकर भागते हैं वे योगी नहीं हैं—

"डरे मुवा जती धायें भोजन सती गये धन त्यागी
नाथ कहै ये तीन्यों अभागी ।"

इस तरह से गोरख ने अपने पंथ का संघटन पुराने चले आते सिद्धांतों के ही आधार पर किया । तंत्र में जो साधक के गुण दिखाये जा चुके हैं वे ही यहां भी दिखाई देते हैं । यम नियम आसन प्राणायाम की व्यवस्था इसीलिये की गई थी कि उसके द्वारा शरीर शुद्ध हो जाता है और साधक इस योग्य हो जाता है कि वह समाधि में ब्रह्म का ध्यान कर सके । तंत्र के अधिकारी भी वे ही हो सकते थे जो दक्ष, जितेन्द्रिय, सर्वहिंसाविनिरमुक्त, सर्वप्रनहितरत, शुचि, आस्तिक और ब्रह्म परायण होते थे । गोरख ने अपने पंथ में भी इसी पर ज़ोर दिया है ।

दसवें द्वार निरंजन उन मन बासा, सबदे उलटि समानां ॥"
सारे संसार में ऊँकार व्याप्त है, "ऊँकार नामी हृदै देवगुरु सोई"
"नाद ही कैं पाइये परम निरवानां।"

क्योंकि—

"नाद ही तौ आछे बाबू सब कुछ निधांनां
बाई के प्रसादि व्यंक गुरु मुख रहै
सक्ति रूपी रज आछे सिव रूपी व्यंद
बारह कला रव आछे सोलह कला चंद।"

यहाँ तक माया प्रबल रहती है अगर—

"चारि कला रवि की जे ससि धरि आवै
तौ सिवि सक्ती संमि होवै अन्त कोई न पावै।"

(बारह कलारव=चितां, तरंग, उचंभ, माया, परग्रहणी, परपंच, हेत, बुधि, काम, क्रोध, लोभ और दृष्टि पे बारह कला सूरज की हैं।

सोलह कलाचंद=मांति, नृवर्त, छिमा, नृमल, निहचल, ग्यांन, सरूप, पद, नृबांण, नृबिष, निरंजन, अहार, निद्रा, मैथुन, बाई और अमृत)

अहार, निद्रा, मैथुन और बाई को चंद्र से अगर अलग कर दिया जाय तो शिव शक्ति का मिलाप हो जाता है।

आवागमन से कैसे छुट्टी मिले इस पर गोरख कहते हैं—

अहरणि नाद नै व्यंद हथौड़ा, रवि ससि वालां पवनं
मूल चापि दिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागवनं
सहज पलांण (जीव) पवन करि घोड़ा, लै लगाम चित चबका
चेतनि असवार ग्यांन गुरुकरि, और तजौ सब ढबका।"

जीव कैसे अपने को बचाये इस पर गोरखनाथ कहते हैं—

"ज्ञान गुरू दोऊ तुपा अम्हारै, मनसा चेतनि डोडी
उनमनीं तांती वाजन लागी, यहि विधि तृष्ना बांकी
एणीं सतुगुरि अम्हें परणांव्य, अबला बाल कुंवारी।"

शरीर नाशवान हो, अग्नि [illegible] और इसी कारण अमृत मिलता नहीं। इसलिये [illegible] कि सांसारिकता को नष्ट कर दे। और यह तभी हो सकती है [illegible] सुषुम्ना का मार्ग खोल दिया जाय। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

"द्वादस दल भीतरि भली बधि षोडस निरखोअं ।
मूल सहंसर दीप सींच धरि उनमनी [illegible] निपाअं ।
नाद अनाहद गाजै गैगा, षट्‌चक्र [illegible] मार्ग ।
दक्षिण [illegible] उत्तर [illegible] ।
चंद सूर की मुद्रा कीन्ही [illegible] सहज [illegible] मेला ।
षोडस नाडी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाडी भानं ।
सहस्र नाडी प्राण का मेला, जहाँ असंख कला सिव थानं ।
अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भानं ।
उलटिया पवन षट्चक्र बेधिया, तातैं लोहै साधिया।
चंद सूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलख बिनांणं ।।"[१]

सूर्य ही अमृत का शोषण कर शरीर को नाशवान बना देता है। तंत्र के अनुसार भी साधक चंद्र और सूर्य को उनके स्थानों पर स्थित कर देता है। अमृत को अग्नि सोख लेती है। मारुत के निमित्त वायु के द्वारा कुंडलिनी जाग्रित होती है। वह सहस्र में जा चंद्र को काटती है जिससे अमृत शरीर में व्याप्त हो जाता है। इस ओर गोरखनाथ ने भी संकेत किया है।

साधक योग के फलस्वरूप शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेता है इसे गोरख ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"काया हमारैं सहर बोलिये, मन बोलिये हुनवार ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वार ।
तीन सै साठि चौरागद रचिले, सोलह पखिने पाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसै, दसवां लष्यो न जाई ।
अठारह भार कोटकंठ जरा लाइले, बहत्तर कोठडी निपाई ।

नवमुख ऊपरै चंद फिरै तब काया गढ़ लिया न जाई ।"

(तीन सै साठि=३६० हड्डियाँ, सोलह पसिरौ आई=पाँव का अँगूठा, मूल, गुदा, मेढ़, उड्डियान, नाभि, हृदय, कंठघंटिका, जिह्वामूल तालु, कांवटस मूल, नासिकाग्र, नासिका मूल, भ्रूमध्य, ललाट और नेत्र, बहत्तर कोठड़ी=७२ प्रधान नाड़ियाँ।)

शरीर के ऊपर अधिकार प्राप्त कर लेने से—

"उलटै सहज हुलीसों आप, अनहद उपजै आपहिं आप।
'अंक नाभि लै उठी सूर, रोम रोम धुनि बाजै तूर।
उलटै कमल सहंसदल वास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास॥"

और फिर प्रकाश हो जाने पर अमृत की जो धारा नीचे गिरकर नष्ट होती रहती है, वह फिर वहीं से निकली है वहीं प्रविष्ट हो जाती है। साधक अमृत का स्वयं पान कर सकता है—

काली गंगा[1] पीली गंगा[2] झिलमिल दीसै कंचन का पाणी पुनि
पुनि फिर पईसै।

कुंडलिनी को वे शक्ति का प्रतीक मानते हैं।

प्रश्न यह है कि योग करने की आवश्यकता ही क्यों है? इस पर गोरख कहते हैं—

"सोवत आवै ऊभी डारी धरती, व्यंद न थाई।
निश्चल आसन पवनां ध्यानं अगनी व्यंद न जाई।

जब सूर्य (पिंगला नाड़ी) और चंद (इड़ा नाड़ी) अथवा आधार पद्मस्थ सूर्य का सहस्रारस्थ चन्द्रमा से मेल हो जाता है और तीन त्रिकुंट अर्थात् सत्, रज, तम दबा दिये जाते हैं तब तूर बजता है—

"सूर माहिं चंद चंद माहिं सूर। चपंति तीनि ते ठुका बाजत तूर।
भणंत गोरषनाथ एक पद पूरा। कायंत सीद् सांधति सूर॥"

इड़ा पिंगला का जब सुषुम्ना में मेल होता है और सुषुम्ना में जब पवन का निरोध हो जाता है तब साधक अमर हो जाता है—

[1] पिंगल-यमुना। [2] इड़ा

इकटी विकुटी त्रिकुटी संधि पछिम द्वारे पवनां बंधि ।
षूटै तेल न बूझै दिया बोलै नाथ निरंतरि हूवा ॥"

जब तक स्वास का निरोध नहीं होता, तब तक सिद्ध योग दुर्लभ है क्यों की जल वीर्य का अहार किये बिना शरीर में रोग व्यापता है और साधक जल का आहार कर सकता है उर्ध्वरेता हो सकता है। प्राणायाम की चरम सिद्धि कुम्भक ही से है—

"ज्यूँ ज्यूँ भुयंगम आवै जाइ सुरही धीर नहीं गरद रहाइ
तब लज सिध दुर्लभ जोग तोयं अहार बिन आवै रोग ॥"

गोरख के अनुसार तेरह फाटक हैं, दस प्रकट और तीन गुप्त। नौ नाड़ियाँ और ७२००० कोठे हैं। सुषुम्ना में ही सब मिलती हैं प्रमुख नौ नाड़ियाँ ईड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और संखिनी हैं। इस किले में अष्ट चक्र हैं। यहाँ हम तंत्र से उनका भेद देखते हैं। वहाँ छः चक्रों का उल्लेख मिलता है पर यहाँ वे संख्या में आठ हैं। वहाँ आज्ञा चक्र में दो दल माने गये हैं यहाँ इनकी संख्या सोलह बतलाई गई है। इसके ऊपर गोरख के अनुसार गिनांनचक्र सुछिम चक्र और फिर सहस्रदल कमल है। इसके सम्बन्ध में बड़थ्वाल ने गोरखबानी में लिखा है "योगियों में आठ कमल भी माने जाते हैं सातवाँ ज्ञान चक्र में सहस्रदल कमल और आठवाँ विज्ञान में २१ सहस्रदल कमल और बत्तीस पंखुड़ियाँ (संभवतः बत्तीस लक्षण) हैं। संस्कृत अनुवाद भी इसमें सहायक नहीं है। उसमें बत्तीस पंखुड़ियाँ और नौ कलियों का उल्लेख नहीं हैं।"

पाँच तत्व चोर हैं इनकी पाँच पाँच प्रकृतियाँ हैं। जब तक षट-चक्र भेदन नहीं होता इन पर वश नहीं कर पाते। सुषुम्णा से तीन मुख्य प्राणवाहिनी नाड़ियाँ हैं जिनके साधन से भ्रम छूटता है और ब्रह्म साक्षात्कार होता है। पंचतत्व के संसर्ग के कारण से ही अमृत विष हो जाता है।

गोरख नाथ का कहना था कि संसार कितना मूर्ख है कोई कहता

"मैया सो जतैयो राधे वेनु न चुरावै कहूँ ।
मोहि सुधि आवै या की सावधान रखियो ॥"

यहाँ सूर का भाव ही ज्यों का त्यों ले लिया गया है । गोपियाँ उद्धव के आने पर उनसे कुशल समाचार पूछतीं हैं—

"कुसल अक्रूर रसनायक कुशल दोऊ ।
मधुवन मानिनी जे मानियै सकलु है ॥
रानी अधि रानी महरानी पटरानी वह ।
नई ठकुरानी कहो कुबिजा कुसलु है ॥"

यहाँ 'अक्रूर' और 'नई ठकुरानी' का कुशल समाचार पूछना गोपियों की सरलता और सहृदयता प्रकट करता है । और यह कवि की अपनी मौलिकता है । उद्धव बहुत ही शुष्कता से कहते हैं—

"कुसल सदा ही रसनायक विराजै तहाँ ।
बूझत कहा हौ बात सुनिये सकत कों ॥"

इस प्रकार उद्धव हृदयहीन होकर 'ध्यानावस्थित' होकर मुक्ति प्राप्त करने का उपाय बताते हैं । परंतु गोपियाँ उनकी समस्त बातों का प्रतिवाद करती हैं; और इस क्षेत्र में सूर की गोपियों की श्रेणी में ही आती हैं । केवल भाव-व्यंजना का उतना सुन्दर व्यापक विस्तार यहाँ नहीं मिलता । गोपियाँ कहती हैं—

"सोच न हमें है गुन औगुन किये की कछु ।
सोच न हमें है बधि माखन उजारे को ॥"

परंतु उनको केवल इस बात का ही दुःख है—

"सौंपी नाथ भाजि मोपी गोधन हौं धौंहौं ताको ।
सोच है हमारे ऊधो बिरह सिकारे को ॥"

और इस प्रकार समस्त भाव-भाग सूर के आधार पर चलती है । कहीं कहीं केवल गोपियाँ उपालम्भ देती हैं—

"कारन की कहीं जानि अति कपटे कंह निदान ।
तिन ही सों जु पर्योगिये दूरहि की कुसलात ॥"

यहाँ एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि राधा स्वयं पत्र लिखती है—"अब मान न करूँगी, तुम मनमानी करना। ब्रज तुम बिना सून्य है। गोकुल के नाथ होकर यहाने क्यों नहीं आते।" राधा, गोपियाँ और जसोदा उद्धव को संदेश देने के बाद फिर कहती हैं—'उद्धव तुम अब मथुरा और द्वारिका कहाँ जाओगे। यहीं ब्रज में बस कर जन्म क्यों नहीं सफल करते।" पर उद्धव द्वारिका जाकर कृष्ण को ब्रज की सारी कथा सुनाते हैं। वे गोपियों के प्रेम से बहुत अधिक प्रभावित हैं—

मोहि न बूझी कछू उनकी इत आयो ये हाहा वही जक लागी।
ये वह मानिनी बीचहिं तैं टूक ह्वै ही सुनों कहिगों निरभागी॥"

कृष्ण भी उसी प्रकार गोपियों के प्रेम को स्मरण कर विकल हो जाते हैं—

"ये ही उनमान जिय जानि लै निदान येंयें।
देही द्वारिका में ऊधौ ब्रज में ही प्रान हैं॥"

अन्त में उद्धव फिर ब्रज में जाने से इनकार कर देते हैं और कहते हैं कि किसी अन्य चतुर व्यक्ति को भेज कर गोपियों को बुला लिया जाय और स्वयं कृष्ण ही उनको उपदेश दें—

"मोहू सो चतुर कोऊ और ही पठाव नाथ।
गोपीन बुलाय अब कीजै क्यों न जोगिनी॥"

उद्धव का कथन कवि की मौलिकता है और यहाँ काव्य का प्रसंग सुन्दर ढंग से समाप्त किया गया है।